परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

सहस्रग्रन्थसंग्रह

✲ जन्मदिवस 19–03–1971 ✲ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ✲ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

जैन आयुर्वेद
का इतिहास
लेखक
डॉक्टर राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
प्रकाशक
सूर्य प्रकाशन संस्थान
उदयपुर (राजस्थान)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

जैन आयुर्वेद का इतिहास

JAIN AYURVED KA ITIHAS

डॉ. राजेन्द्रप्रकाश भटनागर

सूर्य प्रकाशन संस्थान, उदयपुर (राज.)

लेखक—परिचय

जन्म : 25 सितम्बर 1942

शिक्षा : आयुर्वेद में भिषगाचार्य (स्वर्णपदक प्राप्त)
आयुर्वेदाचार्य (सर्वप्रथम), एच पी.ए. (जामनगर)
पी-एच. डी. आयुर्वेद (राज. वि. वि)
अन्य- एम. ए., पी-एच.डी. (इतिहास), साहित्यरत्न
मानद- आयुर्वेद-बृहस्पति (बिहार) ।

थीसिस : एच. पी. ए.- "स्त्रोतोनुसारी-निदान-चिकित्सा" (कायचिकित्सा)
पी-एच. डी. (इतिहास)- "भारतीय चिकित्सा-विज्ञान 'आयुर्वेद' के विकास की परम्परा (१३००-१८५० ई०)"
पी-एच.डी. (आयुर्वेद)- "चरकसंहिता का समीक्षात्मक अध्ययन" (कायचिकित्सा)

पद : प्रोफेसर,राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर [राजस्थान] पर कार्यरत ।

प्रकाशन : एक दर्जन से अधिक ग्रंथ प्रकाशित एवं लगभग २५० शोधपत्र एवं लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ।

जैन आयुर्वेद का इतिहास

●

लेखक
डॉ. राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
एम. ए., पी-एच. डी., भिषगाचार्य (स्वर्णपदक-प्राप्त)
आयुर्वेदाचार्य, एच. पी. ए. (जाम.)
प्राध्यापक,
म. मो. मा. राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय,
उदयपुर (राजस्थान)

●

सूर्य प्रकाशन संस्थान, उदयपुर
1984

JAIN AYURVEDA KA ITIHASA

Dr. R. P. BHATNAGAR
M. A., Ph. D., Bhishagacharya (Goldmedalist),
Ayurvedacharya, H. P. A (Jam.)
Professor,
M. M. M. Govt. Ayurvedic College.
UDAIPUR (Raj.)

SURYA PRAKASHAN SANSTHAN
UDAIPUR, Rajasthan, (India) 1984

भूमिका

आयुर्वेद जीवन का विज्ञान है। भारतीय समाज और साहित्य में यह इस तरह अनुस्यूत हो चुका है कि इसको पृथक् करना मुश्किल है। जीवन को प्रभावित करने वाली दो ही बातें हैं—प्रथम-शिक्षा और दूसरी–चिकित्सा। सभी मतों और धर्मों के प्रवर्तन तथा विस्तार के साथ इन दो के महत्वपूर्ण योगदान को परिलक्षित किया जा सकता है। वैष्णव मत में विष्णु के अवतारों में एक धन्वन्तरि बताये जाते हैं, जो आयुर्वेद के प्रवर्तक हैं। शैवमत में भी शिव के अठारह अवतारों में एक नकुलीश या लकुलीश नामक अवतार तो वस्तुत: चिकित्सक का ही रूप है। लकुलीश की पाई जाने वाली मूर्तियों के एक हाथ में हरीतकी और दूसरे हाथ में नाकुलीबूटी को अंकित किया गया है। हरीतकी रसायन और रोगनाशन चिकित्सा का प्रतीक है तथा नाकुली विषचिकित्सा का। बुद्ध के एक रूप अवलोकितेश्वर को 'भैषज्यगुरु' माना जाता है। इसी प्रकार जैनमत में तीर्थङ्करों की वाणी में ही चिकित्साशास्त्र के प्रादुर्भाव को स्वीकार किया गया है। जनमानस को प्रभावित करने के लिए शिक्षा और चिकित्सा ही दो ऐसे माध्यम हैं, जो सर्वोपरि उपयोगी हैं।

जैनमत में तीर्थंकरों की वाणी को बारह भागों में बांटा गया है, ये 'द्वादशांग' आगम कहलाते हैं। इनमें से बारहवां अंग 'दृष्टिवाद' है। 'दृष्टिवाद' के भी पांच भेद (भाग) हैं। प्रथम भाग 'पूर्व' संज्ञक है। पूर्व से अभिप्राय है, अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर से पूर्व—पहले का ज्ञान जो आदि तीर्थंकर ऋषभदेव आदि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के उपदेशरूप वाणी के रूप में प्रकट हुआ था। 'पूर्व' के भी चौदह प्रकार हैं। इनमें से बारहवें 'पूर्व' का नाम 'प्राणावाय' है। प्राणों का यापन करने के लिए यम, नियम, आहार–विहार और औषधियों के रूप में स्वास्थ्य के उपायों का विवेचन करने वाला होने से प्राणावाय में संपूर्ण चिकित्साशास्त्र और योगशास्त्र का समावेश होता है। यह ही जैन–आयुर्वेद का मूल है। इसका ज्ञान पारंपरिक रूप से ऋषभदेव से गणधर और प्रतिगणधरों ने, उनसे श्रुतकेवलियों ने और उनसे बाद में होने वाले मुनियों ने ग्रहण किया। दैवदुर्विपाक से 'प्राणावाय' का साहित्य नष्ट हो चुका है। उस परंपरा का एकमात्र ग्रंथ उग्रादित्याचार्यकृत 'कल्याणकारक' मिलता है। इसमें प्राणावाय-परंपरा का दिग्दर्शन किया गया है। यह ग्रंथ दक्षिण भारत में 8वीं शती के अंत में रचा गया था। उत्तर भारत में लिखा हुआ प्राचीनकाल का कोई जैन–चिकित्सा–ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। अहिंसा आदि तत्वों का पालन करते हुए मद्य, मांस और मधु को छोड़कर समस्त रोगों और अवस्थाओं की विस्तृत चिकित्सा बताना ही 'प्राणावाय' का आधार था। इस दृष्टि से यह एक सफल चिकित्साशास्त्र भी रहा। आयुर्वेद की भांति प्राणावाय के भी कायचिकित्सा आदि आठ अंग बताये गए हैं।

परन्तु कालान्तर में दृष्टिवाद के नष्ट हो जाने पर प्राणावाय की परम्परा भी टूट गयी। जैन भट्टारक, यति–मुनि और अन्य विद्वानों ने लोक–प्रचलित आयुर्वेद को ग्रहण कर उस पर अपनी कृतियां प्रस्तुत कीं। फिर भी उनका दृष्टिकोण जैनसिद्धांता-

नुसार ही रहा। उन्होंने मूलसिद्धांतों का पालन करते हुए चिकित्सा का निरूपण किया। रसचिकित्सा, काष्ठौषधियों के विशिष्ट योग आदि इन जैन विद्वानों की महत्वपूर्ण देन कही जा सकती है। इनका विपुल आयुर्वेद-साहित्य उपलब्ध होता है। प्राणावाय की परंपरा बाद में नहीं मिलने और जैन विद्वानों द्वारा आयुर्वेद को अपनाते हुए उस पर ही अपनी रचनाएं प्रस्तुत करने के कारण इस ग्रन्थ का नामकरण 'जैन आयुर्वेद का इतिहास' करना अधिक समीचीन प्रतीत हुआ।

प्रस्तुत अध्ययय जैन विद्वानों द्वारा आयुर्वेद के क्षेत्र में किए गए विस्तृत कार्यों का सर्वेक्षण है। इसे इसप्रकार के शोधकार्य की प्रथम कड़ी समझा जाना चाहिए। इसीसे लेखक ने किसी पूर्वाग्रह को स्वीकार नहीं किया है। उसका दृष्टिकोण सर्वग्राही और व्यापक रहा है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जैन आयुर्वेद के ग्रन्थकारों और उनकी कृतियों का मूल्यांकन करने का यह प्रथम प्रयास है। अबतक इस विषय पर कोई भी स्वतंत्र शोध-अध्ययन नहीं हुआ है। बल्कि बहुत कम लोग जानते हैं कि जैन आयुर्वेद की प्राणवाय संज्ञक भी कभी कोई परम्परा रही थी। गत कई वर्षों से लेखक इस कार्य को करने में संलग्न रहा, इस अवधि में सैकडों पाण्डुलिपियों का अवलोकन-अध्ययन भी किया। पांडुलिपियों की खोज में विभिन्न सुदूरवर्ती क्षेत्रों की यात्राएं भी कीं। इस प्रकार अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप जैन ग्रन्थकारों एवं विद्वानों की उपलब्धियों के संबंध में जो सामग्री वह जुटा पाया, वह सार-रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत है।

उपलब्ध जैन आगम-साहित्य में भी व्यवहार और मान्यताओं के रूप में आयुर्वेद सम्बन्धी विपुल सामग्री संगृहीत है, आज उसके एकत्रीकरण और विश्लेषण की बहुत बड़ी आवश्यकता है। प्रस्तुत लेखक ने इस विषय पर भी अपना प्रथम शोधकार्य कर डाला है, जो शीघ्र प्रकाशित होगा।

लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व-लेखक ने जैन आयुर्वेद पर एक लेख लिखा था, तब से अब तक पंद्रह से अधिक उसकेशोध-लेख इस संदर्भ में प्रकाशित हो चुके हैं। उन सब के आधार पर तथा अपने सुहृज्जनों द्वारा उत्साहित होने पर संपूर्ण अध्ययन-सामग्री को ग्रन्थरूप देने का यह साहस किया है। प्रथम एवं सर्वथा नवीन प्रयास होने से इसमें त्रुटियां रहना स्वाभाविक है, विद्वान् पाठक उनकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे। अग्रिम संस्करण में उन समस्त संशोधनों को अपेक्षित स्थान देते हुए इस ग्रन्थ को परिष्कृत करने का प्रयत्न किया जा सकेगा। इस प्रसंग में विद्वानों के विचार और सुझाव भी आमंत्रित हैं।

अन्त में मैं आदरणीय डा. कमलचंद सोगानी, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर एवं मित्रवर डा. देव कोठारी का हृदय से आभारी हूं, जिन्होंने इसे प्रकाशित करने हेतु बार-बार उत्साहित किया और इस संबन्ध में सुझाव दिये।

विद्वत्कृपाकांक्षी

नवरात्र-स्थापना

25, सितम्बर, 1984

(डॉ.) राजेन्द्रप्रकाश भटनागर

जैन आयुर्वेद का इतिहास

अनुक्रमणिका

*

अध्याय–1

विषय-प्रवेश

1 जैन धर्म

भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विचार :

जैन-धर्म अत्यंत प्राचीन और पारंपरिक है। जैन-पुराणों में भारत के भौगोलिक और प्राचीन ऐतिहासिक विवरण मिलते हैं। भारत को 'जम्बूद्वीप' के दक्षिण में स्थित बताया गया है। इसके उत्तर में 'हिमवान्' (हिमालय) पर्वत और मध्य में 'विजयार्द्ध' (विंध्य) पर्वत है। हिमवान् से निकलकर सिन्धु नदी पश्चिम में तथा गंगा नदी पूर्व में बहती है, जिससे उत्तरी भारत के तीन विभाग-पूर्व, मध्य और पश्चिम-बन गये हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत के भी तीन विभाग हैं—पूर्व, मध्य और पश्चिम। ये भारत के छः खंड हैं, जिन पर विजय पाकर कोई राजा 'चक्रवर्ती' की उपाधि ग्रहण करता था।

जैन-पुराणों में यहां के प्राचीन इतिहास को सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया है—प्रथम 'भोग-भूमि-व्यवस्था' में ग्राम व नगर अस्तित्व में नहीं आये थे, कुटुम्ब का रूप भी नहीं बन पाया था। मनुष्य खाने-पीने, ओढने-बिछाने का सब काम वृक्षों से संपादित करता था, अतः वृक्षों को 'कल्प वृक्ष' कहा जाता है (सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाला वृक्ष)। धर्म-भावना प्रादुर्भूत नहीं हुई थी। सर्वत्र घनेवन थे और उनमें हिंस्र जीवों की बहुलता थी। शनैः शनैः नागरिक सभ्यता का विकास हुआ और द्वितीय 'कर्मभूमि-व्यवस्था' प्रारंभ हुई। इसमें नागरिक सभ्यता बनी। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, उद्योग धंधे, शिल्प आदि अस्तित्व में आये। यह विकास, जैन पुराणों के अनुसार पंद्रह महापुरुषों द्वारा लाया गया, इन्हें 'कुलकर' या 'मनु' कहते हैं। इन महापुरुषों के बाद धर्माचरण व सदाचार की शिक्षा देने के लिए 63 महापुरुष उत्पन्न हुए, इन्हें 'शलाकापुरुष' (गणनीय पुरुष) कहा जाता है। ये निम्न हैं[1]

24 **तीर्थंकर**—1 ऋषभदेव, 2 अजितनाथ, 3 संभवनाथ, 4 अभिनंदन, 5 सुमति, 6 पद्मप्रभ, 7 सुपार्श्व, 8 चंद्रप्रभ, 9 पुष्पदंत, 10 शीतल, 11 श्रेयांस, 12 वासुपूज्य, 13 विमल, 4 अनंत, 15 धर्म, 16 शांतिनाथ, 17 कुन्थु, 18 अरह, 19 मल्लि, 20 मुनिसुव्रत, 21 नमि, 22 नेमि, 23 पार्श्वनाथ, 24 वर्धमान या महावीर।

---

[1] डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान. (भोपाल, 1962), पृ. 9–10।

12 चक्रवर्ती—1 भरत, 2 सगर, 3 मघवा, 4 सनत्कुमार, 5 शांति, 6 कुन्थु, 7 अरह, 8 सुभौम, 9 पद्म, 10 हरिषेण, 11 जयसेव, 12 ब्रह्मदत्त।

9 बलभद्र—1 अचल, 2 विजय, 3 भद्र, 4 सुप्रभ, 5 सुदर्शन, 6 आनन्द, 7 नन्दन, 8 पद्म, 9 राम।

9 वासुदेव—1 त्रिपृष्ठ, 2 द्विपृष्ठ, 3 स्वयम्भू, 4 पुरुषोत्तम, 5 पुरुषसिंह, 6 पुरुष पुण्डरीक, 7 दत्त, 8 नारायण, 9 कृष्ण।

9 प्रतिवासुदेव—1 अश्वग्रीव, 2 तारक, 3 मेरक, 4 मधु, 5 निशुम्भ, 6 बलि, 7 प्रह्लाद, 8 रावण, 9 जरासंघ।

काल-विभाग—

जैन मान्यता के अनुसार भारत में संपूर्ण काल-चक्र को दो भागों में बांटा गया है—इन्हें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक 'कल्प' कहते हैं। उत्सर्पिणी सभी भावों का उन्नति-काल है तथा अवसर्पिणी ह्रास-काल है। यह कालचक्र अनादि है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। प्रारंभ में उत्सर्पिणी काल था। अब अवसर्पिणी काल चल रहा है, दोनों कालों में चौबीस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक कल्प के छः काल-विभाग हैं—जिनके नाम-सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा।

वर्तमान अवसर्पिणी काल में अब तक चौबीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ हुए तथा अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर हुए।

अवसर्पिणी कल्प के तृतीय सुषमा-दुषमा काल में अयोध्या के राजा नाभिकुलकर की महाराणी मरुदेवी से आदि (प्रथम) तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ था। उन्होंने सुव्यवस्थित कर्मप्रधान सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया। उन्होंने 72 कलाओं ओर स्त्रियों की 64 कलाओं का उपदेश दिया; अग्नि जलाना, अन्न पकाना, बर्तन बनाने, वस्त्र बुनने और बाल बनाने की विधियां तथा सुसंस्कृत विवाह-संस्था का प्रचलन किया। उन्होंने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या रूप 'लौकिक षट्कर्मों' तथा देवपूजा, गुरुभक्ति स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप 'धार्मिक षट्कर्मों' का उपदेश दिया। कर्म के आश्रय-भेद से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में श्रम का सामाजिक विभाजन स्थापित किया। सुव्यवस्थित राज्य एवं समाज की व्यवस्था द्वारा उन्होंने सभ्य नागरिक युग का प्रारम्भ किया। उनके पूर्व सर्वत्र असभ्ययुग प्रचलित था। उन्होंने अहिंसामय सरल आत्मधर्म और सदाचारप्रधान योगधर्म का उपदेश किया। अन्त में कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। इनका कार्य क्षेत्र अयोध्या से हस्तिनापुर तक रहा।

इनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती ने संपूर्ण भारत में एकछत्र शासन किया, उसी के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया और उससे 'भरत वंश' चला। ऋषभदेव का

दूसरा पुत्र द्रविड था, जिससे 'द्राविड़' लोग हुए। संभवत: उसने किसी विद्याधर कन्या से विवाह करके वह विद्याधरों में ही बस गया था और उनका नेता बन गया था, जिससे वे लोग कालांतर में 'द्राविड' कहलाये।[1]

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन का अनुमान है कि "ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन सिन्धु सभ्यता के पुरस्कर्ता प्राचीन विद्याधर जाति के लोग थे जिन्हें द्राविड़ों का पूर्वज कहा जा सकता है। किन्तु साथ ही उनके प्रेरक एवं धार्मिक मार्गदर्शक मध्यदेश के वे मानववंशी मूल आर्य थे जो तीर्थंकरों के आत्मधर्म और श्रमण संस्कृति के उपासक थे। तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ से लेकर नवें तीर्थंकर पुष्पदन्त तक का काल सिन्धु सभ्यता के विकास का काल है।[2] ये लोग वेदों में अवैदिक (वेदविरोधी), अनार्य, व्रात्य दस्यु और असुर कहे गये हैं। विद्वानों ने मोहनजोदड़ो की सभ्यता का काल ई. पू. 6000 से 2500 वर्ष तक तथा हड़प्पा की सभ्यता का काल ई. पू. 3000 से 2000 वर्ष तक माना है। सिन्धु सभ्यता का फैलाव 'गंगा, चंबल और नर्बदा के कांठों में पश्चिमी उत्तरप्रदेश, पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात काठियावाड़' आदि क्षेत्रों में हो चुका था। यह समूची सभ्यता–संस्कृति आर्यों से भिन्न 'द्राविडीय' मानी जाती है। जैन धर्म के प्रारंभिक तीर्थंकर इसी संस्कृति से संबंधित थे, ऐसा विद्वानों का मत है।

पं. बेचरदास दोशी ने श्री जैन धर्म को तथाकथित सिन्धु–संस्कृति से संबद्ध किया जाना उचित बताया है।[3]

कालान्तर में साथ-साथ आवासन और परस्पर आदान–प्रदान व रोटी–बेटी के व्यवहार से आर्य-सभ्यता और द्राविड़-सभ्यता का सम्मिश्रण होता गया। महाभारत काल तक यह मेल पूर्ण हो चुका था। संपूर्ण भारतीय समाज में आर्य और द्राविड़ का भेद मिटकर, व्यवसाय या कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण बन गये थे। वर्ण कार्य पर आधारित थे यानि वर्ण परिवर्तन करना सरल था, जटिल नहीं।

महाभारत का काल ई. पू. 1450 के लगभग ठहरता है। उस समय वत्स, कुरु, पांचाल, शूरसेन, कोसल, काशी, पूर्वविदेह, मगध, कलिंग, अवन्ति, महिष्मती और अश्मक—ये वैदिक क्षत्रियों के 12 राज्य थे। ई. पू. 1400 से 600 के बीच का काल अस्पष्ट है। इसके बाद प्राय: निश्चित ऐतिहासिक तिथिक्रम मिल जाता है। बौद्ध काल के 16 'महाजनपदों' का उल्लेख 'अंगुत्तरनिकाय' में (आठ युगलों के रूप में)

---

[1] डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन— भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, द्वि. सं. 1966) पृ. 24।

[2] वही, पृ. 28

[3] जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग–1, पृ. 19–20।

मिलता है—काशी–कोसल, अंग–मगध, चेतिय (चेदि)-वंश (मत्स्य), कुरु–पांचाल, मच्छ (मत्स्य) सूरसेन, अस्सक (अश्मक)—अवन्ति, गांधार–कम्बोज। प्रसिद्ध जैन ग्रंथ 'भगवतीसूत्र' में 16 प्रांतों या जनपदों के नाम कुछ भिन्न रूप में हैं— अंग, बंग, मगह (मगध), मलय, मालव, अच्छ (अश्मक), वच्छ (वत्स), कच्छ, पाढ़ (पाण्ड्य), लाढ़ (राधा), वज्जी, मल्ल, काशी, कोसल, आवाह और सम्भूत्तर।

सभी तीर्थंकर व्रात्य क्षत्रियवंशों में उत्पन्न हुए थे। अंतिम चार तीर्थंकरों के विषय में विशेष ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आये हैं—नमिनाथ इक्कीसवें तीर्थंकर थे। ये मिथिला के राजा और जनक के पूर्वज थे। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ या अरिष्टनेमि थे। ये शूरसेन जनपद की राजधानी सोरियपुर=शोरिपुर (सूर्यपुर, आगरा जिले में बटेश्वर के पास) में यदु वंश में उत्पन्न हुए थे। ये कृष्ण के चचेरे भाई थे। इन्होंने सौराष्ट्र के गिरनार या ऊर्जयन्त पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी के उरगवंशी राजकुमार थे। इनका जन्म ई. पू. 877 में (वर्धमान महावीर से लगभग 250 वर्ष पूर्व) हुआ था। इन्होंने सौ वर्ष की आयु में ई. पू. 777 में बिहार के सम्मेदशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया। अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर का जन्म वज्जी–विदेह की राजधानी (बसाढ़—मुजफ्फरपुर, बिहार) के उपनगर क्षत्रियकुण्ड ग्राम (कुण्डपुर) में लिच्छवी वंशीय राजा सिद्धार्थ एवं रानी त्रिशला से हुआ था। ज्ञातृकुल में उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञातृपुत्र तथा वीर होने के कारण महावीर कहलाये। तीस वर्ष पर्यन्त श्रमण धर्म का उपदेश देने के बाद 72 वर्ष की आयु में (527 ई. पू. के लगभग) कार्तिकी अमावस्या के दिन मज्झिमपावा (पावापुरी–बिहार) में निर्वाण प्राप्त किया। उन्होंने अपने उपदेश जनसाधारण की भाषा अर्धमागधी में दिये।

वर्धमान महावीर और बुद्ध का काल लगभग समान है। उनका जन्म और विहार प्राय: एक ही प्रदेश में हुआ तथा दोनों ने वर्ण–व्यवस्था व हिंसामय–यज्ञयाग आदि का विरोध प्रकट किया।

महावीर के उपदेश से पावानगरी में जिन विद्वान् ब्राह्मणों ने उनका शिष्यत्व और श्रमणधर्म ग्रहण किया, वे "गणधर" (प्रमुख शिष्य) कहलाये। वे ही द्वादशांग, चतुर्दशपूर्व एवं समग्र गणिपिटक के ज्ञाता बने।

महावीर की उपस्थिति में गौतम इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोड़कर सब गणधरों ने राजगृह में निर्वाण प्राप्त किया।

गौतम इन्द्रभूति और आर्य सुधर्मा ने महावीर निर्वाण के 12 वर्ष बाद तक जैन संघ का नेतृत्व किया। सुधर्मा के शिष्य जम्बूस्वामी हुए। इनके बाद क्रमश: प्रभाव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूत और स्थूलभद्र हुए। इस प्रकार श्रमण-परम्परा सुधर्मा से निरन्तर अब तक चलती रही है।

जम्बू स्वामी अंतिम 'केवली' थे। उनके बाद निर्वाण और केवलज्ञान बन्द हो गया। अतः जम्बूस्वामी के बाद आचार्य परम्परा के व्यक्ति 'श्रुतधर' कहलाये।

बौद्ध संघ की भांति जैन संघ में भी अनेक मत प्रचलित हुए। इनमें सात 'निह्नव' (मत) मुख्य हैं। इनकी उत्पत्ति महावीर के निर्वाण के बाद से महावीर निर्वाण के 584 वर्ष बाद तक हुई।

ई. सन् के अन्तिम चरण में जैनधर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर (अचेलिक= वस्त्रहीन) ऐसे दो भेद स्पष्ट हो गए।[1]

महावीर द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रन्थ जैनधर्म बिहार से समस्त उत्तर भारत में फैला। फिर राजस्थान, गुजरात और सौराष्ट्र (काठियावाड़) में तथा उडिसा में होकर दक्षिण भारत में पहुंचा। बौद्ध धर्म की भांति यह विदेशों में नहीं फैला।

संक्षेप में, जैनधर्म की परम्परा इस प्रकार रही —

जैनधर्म के मूल प्रवर्तक 'तीर्थङ्कर' माने जाते हैं। कालक्रम से ये चौबीस हुए।

इनमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ और अन्तिम महावीर हुए। महावीर का निर्वाण संवत् से 470 वर्ष पूर्व, शक संवत् से 605 वर्ष पांच माह पूर्व तथा ईसवी सन् से 527 वर्ष पूर्व हुआ था। वर्तमान प्रचलित जैन-धर्म की नींव महावीर के उपदेशों से पड़ी। उन्होंने जैन संघ को चार भागों में बाँटा—मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। पहले दोनों वर्ग घरबार छोड़कर परिव्राजक व्रत धारण करने वाले और शेष दोनों ग्रहस्थों के वर्ग हैं। इसे 'चतुर्विध-संघ' कहते हैं। परिव्राजकों और गृहस्थों के लिए अलग-अलग आचार-नियम स्थापित किये गये। ये नियम और व्यवस्थाएं आजपर्यन्त जैन-समाज को प्रतिष्ठित बनाये हुए है।

महावीर के बाद गणधर और प्रति-गणधर हुए, उनके बाद श्रुतकेवली और उनके शिष्य-प्रशिष्य आचार्य हुए। यही जैन परम्परा है।

---

[1] श्वेताम्बर मतानुसार महावीर-निर्वाण के 609 वर्ष बाद शिवभूति द्वारा रथवीरपुर नगर में बोटिक अर्थात् दिगम्बर संघ की स्थापना आठवें निह्नव के रूप में मानी जाती है। दिगम्बर आचार्य देवसेन ने विक्रम के 136 वर्ष बाद वलभी में श्वेतांबर संघ की स्थापना बतायी है। इन दोनों ही मतों से यह काल ईसा की प्रथम शती का अंतिम चरण प्रमाणित होता है।

2 जैन आगम-साहित्य

'आ समन्तात् गच्छति=आगच्छतीति आगमः'— जो परम्परा से चला आ रहा है, उसे 'आगम' कहते हैं। जैन मत में आगम, श्रुत, सूत्र, ग्रंथ, सिद्धांत, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना, प्रवचन —ये पर्यायवाची शब्द हैं। ब्राह्मण-परम्परा में वेद और बौद्ध परम्परा में त्रिपिटिक की भांति जैन-परम्परा में आगम-सिद्धांत का महत्व है। जैन-परम्परा में आगम साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है। अंतिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के उपदेशों को उनके समकालिक शिष्य गणधरों ने संग्रहित किया। उनके ग्रंथों को 'श्रुत' कहा जाता है। ये सूत्र रूप में हैं। श्रुत का अर्थ है—सुना हुआ, उपदेश-परम्परा के रूप में चलने वाला ज्ञान 'श्रुत' कहलाता है। ये ही श्रुत आगे चलकर 'आगम' कहलाये। महावीर के उपदेश उनके शिष्य 'गणधरों' ने सुने, उनसे उनके शिष्य 'प्रति-गणधरों' ने इस प्रकार यह उपदेश-ज्ञान श्रुत-परम्परा से चलता रहा। ये शिष्य-प्रशिष्य 'श्रुतकेवली' कहलाये। ऐसा माना जाता है कि समस्त श्रुत-ज्ञान के अंतिम धारक श्रुतकेवली भद्रबाहु (ई. पू. चौथी शती) हुए। यह चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में हुए। उस समय बारह वर्ष का दीर्घकालीन अकाल पड़ा। ऐसे कठिन समय में भद्रबाहु अनेक जैन मुनियों के साथ दक्षिण भारत में चले गए। उत्तर भारत में रहने वाले मुनियों का आचरण शिथिल हो गया और वे श्वेत वस्त्र धारण करने लगे। तब से जैन धर्म में दो सम्प्रदाय प्रवृत्त हुए— दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर मतानुयायी साधु ऋषभदेव और महावीर के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए निर्वस्त्र विचरण करते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय आगमों को मानते हैं। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि कालप्रभाव से शनैः शनैः बुद्धि और मेधा की क्षीणता के कारण आगमों का ज्ञान समाप्त हो गया। वी. नि. के 683 वर्ष बाद बारह अंगों का ज्ञान स्वल्प रह गया। उसी स्मृति के आधार पर धरसेनाचार्य के संरक्षण में 'सत्कर्मप्राभृत' (षट्खण्डागम) और आचार्य गुणधर के संरक्षण में 'कसाय-पाहुड' नामक आगम सूत्रग्रंथों की रचना की गई। इन दोनों की भाषा शौरसेनी है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार आगमों का ज्ञान प्रचलित रहा, परन्तु उनमें काल-प्रभाव से उत्पन्न हुए दोषों के निराकरण और उनके पाठ-संरक्षण के लिए समय-समय पर 'वाचनाएं' आयोजित की गईं। प्रथम वाचना महावीर निर्वाण (ई. पू. 527 के लगभग) के 160 वर्ष बाद (ई. पू. 367) चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में हुई। उस समय अकाल के कारण भद्रबाहु अनेक साधुओं के साथ दक्षिण की ओर चले गये थे। शेष साधु स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में एकत्रित हुए। इस सम्मेलन में श्रुतज्ञान को 11 अंगों में संकलित किया गया, बारहवां दृष्टिवाद का किसी को स्मरण नहीं था,

इसलिए उसके 'पूर्व-ग्रंथों' का आकलन नहीं हो पाया। यह 'पाटलीपुत्र-वाचना' कहलाती है।

दूसरी वाचना हेतु महावीर-निर्वाण के 827 या 840 वर्ष बाद (ई. 300 से 313) आगमों को पुनः व्यवस्थित करने के लिए मथुरा में आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मुनिसंघ का सम्मेलन बुलाया गया। कहते हैं, उस समय भी बारह वर्ष के दीर्घकालीन अकाल के कारण आगम ज्ञान नष्ट हो रहा था। अतः इस वाचना में स्मरण के आधार पर कालिक श्रुत के रूप में आगमों का पुनः संकलन किया गया, यह 'माथुरी वाचना' कहलाती है।

इसी समय वलभी में नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में भी एक मुनि-सम्मेलन हुआ था। इसमें भी स्मरण के आधार पर सूत्रों का संकलन हुआ। आर्य स्कंदिल और नागार्जुन-सूरि के परस्पर पुनः नहीं मिल पाने से आगमों का वाचना-भेद बना रह गया। इसके 150 वर्ष बाद वीरनिर्वाण के 980 या 993 वर्ष बाद (ई. 453-466) वलभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में पुनः मुनि सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें पाठांतरों को शुद्ध कर माथुरी वाचना के आधार पर आगमों को लिपिबद्ध किया गया। दृष्टिवाद तो फिर भी सर्वथा नहीं मिल पाया। इस वाचना के समय 11 अंगों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ भी लिखे जा चुके थे। उस समग्र साहित्य को 'आगम-साहित्य' में अन्तर्निहित माना गया। इस साहित्य के अन्तर्गत 11 अंग, 12 उपांग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 10 प्रकीर्णक और 2 चूलिका —इस प्रकार कुल 45 ग्रंथ सम्मिलित हैं। दृष्टिवाद को मानकर 46 ग्रंथ माने जाते हैं। ये सभी ग्रंथ अर्धमागधी भाषा में हैं। ये आगमग्रंथ गद्य और पद्य में मिलते हैं। इनकी भाषा में अर्धमागधी के साथ देशी भाषाओं का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इन ग्रंथों में दार्शनिक और सैद्धांतिक विषयों का विवेचन है। कहीं-कहीं दृष्टांतों और कथानकों का आश्रय लिया गया है।

इन आगम ग्रंथों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका-नामक चार प्रकार की व्याख्याएं मिलती हैं। ये सब प्राकृत भाषा में हैं। 'निर्युक्ति' से तात्पर्य है सूत्र का निश्चयात्मक अर्थ। ये आर्या छंद में प्राकृत गाथाओं में विरचित हैं। ये संक्षिप्त व पद्यबद्ध हैं। इनकी रचना पाचवीं-छठी शती से पहले होने लग गयी थी। 'भाष्य साहित्य भी प्राकृत गाथाओं के रूप में आर्या छंद में लिखा गया है। इनका रचनाकाल चौथी-पांचवीं शती माना जाता है। निशीथ, व्यवहार और कल्प भाष्य का सबसे अधिक महत्व है। 'चूर्णि-साहित्य' गद्य में है। यह मिश्रित प्राकृत में हैं, यह संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। इसमें तत्कालीन समाज व संस्कृति का अच्छा चित्रण हुआ है। 'टीका-ग्रंथों' में से अधिकांश संस्कृत में हैं। कुछ प्राकृत में हैं। वलभी वाचना से पहले निर्युक्ति, टीकाएं लिखी जा चुकी थीं। यह संपूर्ण व्याख्या-साहित्य जैन आगम साहित्य का पूरक ही है।

अर्धमागधी आगम साहित्य

1 **अंग (गणिपिटक)**–1 आयारांग (आचारांग), 2 सूयगडंग (सूत्रकृताङ्ग) 3 ठाणांग (स्थानांग), 4 समवायांग, 5 वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति), 6 नायाधम्मकहा (ज्ञातृधर्मकथा), 7 उवासगदसाओ (उपासकदशा), 8 अन्तगडदसाओ (अन्तःकृद्दशा), 9 अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा), 10 पण्हवागरणाइं (प्रश्नव्याकरण), 11 विवागसुयं (विपाकश्रुतं), 12 दिट्ठिवाद (दृष्टिवाद)

12 **उपांग**–1 ओववाइय (औपपातिक) 2 रायपसेणइय (राजप्रश्नीय), 3 जीवाभिगम 4 पन्नवणा (प्रज्ञापना) 5 सूरियपण्णत्ति (सूर्य-प्रज्ञप्ति), 6 जम्बुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति) 7 चन्दपण्णत्ति (चंद्रप्रज्ञप्ति) 8 निरयावलियाओ (निरयावलिका) 9 कप्पवडं-वियाओ (कल्पावतंसिका), 10 पुप्फियाओ (पुष्पिका) 11 पुप्फचूलियाओ (पुष्पचूलिका) 12 वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)

6 **छेदसुत्त**–(छेदसूत्र) 1 निसीह (निशीथ), 2 महानिसीह (महानिशीथ), 3 ववहार (व्यवहार), 4 दसासुयक्खन्ध (दशाश्रुतस्कन्ध) अथवा आचारदसा (आचारदशा) 5 कप्पसुत्त (कल्पसूत्र) 6 जीयकप्प (जीतकल्प) या पंचकप्प (पंचकल्प)।

4 **मूलसुत्त**–(मूलसूत्र) 1 उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन), 2 दसवेयालिय (दशवैकालिक) 3 आवस्सय (आवश्यक), 4 पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति) (कहीं पर 'ओहनिज्जुत्ति = ओघनिर्युक्ति)।

10 **पइण्णग** (प्रकीर्णक)-1 चउसरण (चतुःशरण), 2 आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्यव्याख्यान) 3 महापक्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), 4 भत्तपइण्णा (भक्तपरिज्ञा), 5 तन्दुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक), 6 संथारग (संस्तारक), 7 गच्छायार (गच्छाचार), 8 गणिविज्जा (गणिविद्या), 9 देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्त्रव), 10 मरणसमाही (मरणसमाधि)।
यद्यपि प्रकीर्णक ग्रन्थ अनेक हैं, परन्तु वालभी-वाचना के समय इन्हीं दस ग्रन्थों को आगम में सम्मिलित किया गया था।

(2) **चूलिकासूत्र**—1 नन्दी, 2 अनुयोगद्वार। ये दोनों ग्रन्थ अन्य आगमों की अपेक्षा बहुत बाद के माने जाते हैं।

भाषा और विषय की दृष्टि से अंग, मूलसूत्र और छेदसूत्र अधिक प्राचीन हैं। फिर उपांग, प्रकीर्णक, चूलिकाग्रंथ आते हैं। इन पर टीकाग्रंथ 17वीं शती तक लिखे जाते रहे।

आगम-वर्गीकरण के अन्य प्रकार —

(1) सर्वप्रथम जैन आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण 'समवायांग' (समवाय, 136) में मिलता है। वहां आगमों के दो वर्ग किये गये हैं—पूर्व और अंग (द्वादश)। जो साहित्य महावीर से पूर्व निर्मित किया गया वह 'पूर्व' कहलाया। इनकी रचना 'द्वादशांगों' से पहले की है।

(2 नंदीसूत्र (43 टीका) में आगमों के दो वर्गीकरण दिये हैं। प्रथम वर्गीकरण—1 गमिक–दृष्टिवाद। 2 अगमिक–कालिक–श्रुत–(आचारांग आदि)। द्वितीय वर्गीकरण–1 अंगप्रविष्ट (गणधरकृत), 2 अंगबाह्य (स्थविरकृत)। यह वर्गीकरण देवर्द्धिगणि क्षमश्रमण के समय का है। अंगबाह्य के पुन: दो भेद हैं—1 आवश्यक और 2 आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक के 6 और आवश्यकव्यतिरिक्त के 2 भेद हैं–कालिक (उत्तराध्ययन आदि 31 भेद तथा उत्कालिक (दशवैकालिक आदि 28 भेद)। अंगप्रविष्ट के 12 (आचारांग आदि द्वादशांग) भेद हैं।

तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट और गणधर तथा श्रुतकेवली द्वारा संकलित साहित्य 'अंगप्रविष्ट' तथा आरातीय आचार्यों द्वारा निर्मित आगम अंगों के अर्थ के निकट या अनुकूल होने से 'अंगबाह्य' कहलाये। (3) दिगम्बर मान्यता के अनुसार (तत्वार्थसूत्र, 1/20) आगमों के दो भेद हैं—अंग और अंगबाह्य। (अ) अंग— 12 हैं। नाम पूर्वोक्त। 'दृष्टिवाद' को 'भूतवाद' भी कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। 'परिकर्मके 5 भेद हैं —चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। 'चूलिका' के भी 5 भेद हैं—जलगत चूलिका, स्थलगत, मायागत, रूपगत, आकाशगत। 'पूर्व या पूर्वगत' 14 हैं—उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, कल्याण, प्राणावाय, क्रियाविशाल, लोकबिंदुसार।

(अ) **अंगबाह्य** में 24 प्रकीर्णक हैं सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, विनय, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निशिथिक (अशीतिका)।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार 'दृष्टिवाद' के ही कुछ अंश शेष रह गये थे। पुष्पदन्त का 'षट्खंडागम' और भूतबलि का 'कषायप्राभृत' ये दोनों ग्रंथ दृष्टिवाद के 'पूर्वों' के आधार पर ही लिखे गये हैं। परन्तु श्वेतांबर–परम्परा 'दृष्टिवाद' को पूर्णतया विलुप्त मानती है।

श्वेताम्बर–मान्यता के अनुसार आगम—कोई 84 मानते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज 45 आगम मानता है, स्थानकवासी और तेरापंथी 32 आगम मानते हैं। इन विभिन्न मतों के अनुसार आगमों की गणना निम्न है—

84 **आगम**—11 अंग, 12 उपांग, 5 छेदसूत्र (पंचकल्प को छोड़कर), 5 मूलसूत्र (उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, नंदी, अनुयोगद्वार), 8 अन्य ग्रंथ (कल्पसूत्र, जीतकल्प, यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, पाक्षिक, क्षामणा, वंदित्तु, ऋषिभाषित), 30 प्रकीर्णक।

45 **आगम**—इनकी गणना ऊपर की गई है—11 अंग, 12 उपांग, 6 मूलसूत्र, 6 छेदसूत्र और 10 पइन्ना (प्रकीर्णक)।

32 **आगम**—11 अंग, 12 उपांग, 4 मूलसूत्र (दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, अनुयोग-द्वार, नन्दीसूत्र), 4 छेदसूत्र (निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कंध), 1 आवश्यकसूत्र।

ऐसा माना जाता है कि प्राचीनतम श्रुतज्ञान 14 'पूर्वों' में समाहित था, जिसका महावीर ने अपने 11 गणधरों को उपदेश दिया था। कालक्रम से पूर्वों का श्रुतज्ञान लुप्त होता गया। अंत में इसका धारक एक गणधर रह गया, जिससे यह ज्ञान छः पीढ़ियों तक चला। फिर विलुप्त हो गया।

'प्राणावाय' संज्ञक पूर्व का ही दूसरा नाम 'आयुर्वेद' है। प्राणावाय का परिचय और उसकी प्राचीन परम्परा का पृथक् से विवेचन किया जायेगा।

शौरसेनी आगम साहित्य

दिगम्बर सम्प्रदाय उपर्युक्त आगम साहित्य को प्रामाणिक नहीं मानता। उसके अनुसार मूल आगम ग्रंथों का विच्छेद हो गया। केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशिष्ट रहा। उसी श्रुतज्ञान के आधार पर धरसेनाचार्य के संरक्षण में पुष्पदन्त ने 'षट्खडागम' (प्रथम पांच खंड ही रचे), गुणधराचार्य ने 'कषायपाहुड (कषायप्राभृत) और आचार्य भूतबलि ने षट्खंडागम के छठे खंड के रूप में 'महाबंध' (महाधवल) की रचना की। ये ही दिगम्बर सम्मत आगमसूत्र हैं।

पुष्पदन्त और गुणधर का काल विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है।

दिगम्बर परम्परा में इनके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द (ई. प्रथम या द्वितीय शती) के ग्रंथ प्रवचनसार आदि तथा यतिवृषभ (वि. सं. 530-666) कृत 'तिलोयप-ण्णत्ती' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) भी आगमों के अंतर्गत माने जाते हैं।

3 'प्राणावाय' जैन आयुर्वेद की परम्परा

आयुर्वेद शब्द 'आयु' और 'वेद'—इन दो शब्दों से मिल कर बना है। आयु का अर्थ है जीवन और वेद का अर्थ ज्ञान। अर्थात् जीवन–प्राण या जीवित शरीर के सम्बन्ध में समग्र ज्ञान आयुर्वेद से अभिहित किया जाता है।

जैन आगम–साहित्य में चिकित्सा विज्ञान को 'प्राणावाय' कहते हैं। यह पारिभाषिक संज्ञा है। यह 'दृष्टिवाद' नामक अंग के अन्तर्गत एक 'पूर्व' माना जाता है।

जैन तीर्थंकरों की वाणी अर्थात् उपदेशों को 12 भागों में बांटा गया है। इन्हें जैन आगम में 'द्वादशांग' कहते हैं। इन बारह अंगों में अंतिम अंग 'दृष्टिवाद' कहलाता है। यह अब अनुपलब्ध है।

'स्थानांगसूत्र' (स्थान 4, उद्देशक 1) की 'वृत्ति' में कहा गया है कि 'दृष्टिवाद' या 'दृष्टिपात' में दृष्टियां अर्थात् दर्शनों और नयों का (मत–मतांतरों) का निरूपण किया जाता है—

'दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो दृष्टिपातो वा। प्रवचन पुरुषस्य द्वादशाङ्गे।'

'प्रवचनसारोद्धार' (द्वार 144) में भी कहा है— जिसमें सम्यक्त्व आदि दृष्टियों--दर्शनों का विवेचन किया गया है, उसे 'दृष्टिवाद' कहते हैं—

'दृष्टिदर्शनं सम्यक्त्वादि, वदनं वादो वा दृष्टीनां वादो दृष्टिवाद:।"

सामान्यतया 'दृष्टि' शब्द से दर्शन और 'वाद' शब्द से चर्या—यह अर्थ लिया जाता है। 'दृष्टिवाद' में समग्र जैन—ज्ञान-परम्परा निहित थी।

'नन्दीसूत्र' में दृष्टिवाद का परिचय प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि इस अंग के अंतर्गत जिन-प्रणीत समस्त भावों का निरूपण था।

'स्थानांगसूत्र' (10।742) में दृष्टिवाद के निम्न दस पर्याय बताये गए हैं— 1 अणुजोगगत (अनुयोगगत), 2 तच्चावात (तत्त्ववाद), 3 दिट्ठिवात (दृष्टिवाद), 4 धम्मावात (धर्मवाद), 5 पुव्वगत (पूर्वगत), 6 भासाविजत (भाषाविजय), 7 भूयवात (भूतवाद), 8 सम्मावात (सम्यग्वाद), 9 सव्वपाणभूतजीवसत्तसुहावह (सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावह) और 10 हेउवात (हेतुवाद)। इनमें से प्रथम और पांचवां नाम दृष्टिवाद के भेद-सूचक हैं। इन्हें औपचारिक रूप से पर्यायों में गिन लिया गया है।

समवायांग और नंदीसूत्र में दृष्टिवाद के पांच भेद (विभाग) बताये गए हैं— 1 पूर्वगत, 2 सूत्र, 3 प्रथमानुयोग, 4 परिकर्म और 5 चूलिका। इनमें से 'पूर्वों' का सर्वाधिक महत्त्व है।

'पूर्व' का तात्पर्य है अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर से पूर्व (पहले) जो ज्ञान विद्यमान था और जिसका आदिनाथ तीर्थंकर आदि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने उपदेश दिया था। अत: यह जैन–आगम का प्राचीनतम अंश था। 'पूर्व' साहित्य अत्यन्त विस्तृत रूप में था। इस विशाल साहित्य के संबंध में विचित्र मान्यताएं भी प्रचलित हैं। 'कल्पसूत्र' के एक वृत्तिकार ने लिखा है प्रथम पूर्व को लिखने के लिए एक हाथी के वजन जितनी स्याही चाहिए, द्वितीय पूर्व के लिए दो हाथियों जितनी, तीसरे पूर्व के लिए चार हाथियों के वजन जितनी स्याही चाहिए। इस प्रकार क्रमश: दुगुनी–दुगुनी करते हुए अंतिमपूर्व के लिए 8192 हाथियों के वजन के बराबर स्याही लगने की बात कही गयी है। यह कथन अतिरंजित अवश्य है, परन्तु इससे पूर्वों के साहित्य की विशालता और गंभीरता का आभास होता है।

पूर्वों का अस्तित्व महावीर से पहले प्रमाणित होता है। अत: पूर्वों का साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

'पूर्व' चौदह हैं। इनमें से बारहवें पूर्व का नाम 'प्राणावाय' है। इस पूर्व में मनुष्य के आभ्यन्तर अर्थात् मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य अर्थात् शारीरिक

स्वास्थ्य के उपायों, जैसे—यम, नियम, आहार, विहार और औषधियों का विवेचन है। साथ ही, इसमें दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदोध्वंसी रोगों की चिकित्सा का विस्तार से विचार किया गया है।

आठवीं शताब्दी के दिगम्ब आचार्य अकलंकदेव कृत 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' (राज वार्त्तिक) नामक ग्रन्थ में 'प्राणावाय' की परिभाषा बताते हुए कहा गया है—

'कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतिकर्म-जांगुलिकप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्। (रा. वा, अ. 1, सू. 20)

अर्थात्—जिसमें कायचिकित्सा आदि आठ अंगों के रूप में सम्पूर्ण आयुर्वेद, भूतशान्ति के उपाय (अथवा महाभूतों की क्रिया), विषचिकित्सा (जांगुलिकप्रक्रम) और प्राण-अपान आदि वायुओं के शरीर धारण करने की दृष्टि से विभाजन का, प्रतिपादन किया गया है, उसे 'प्राणावाय' कहते हैं।

आयुर्वेद के आठ अगों के नाम हैं—कायचिकित्सा (मेडिसिन), शल्यतंत्र (सर्जरी), शालाक्यतन्त्र (ईअर, नोज, थ्रोट, ऑपथेल्मोलोजी), भूतविद्या, कौमार-भृत्य, अगदतन्त्र, (विषचिकित्सा), रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र। चिकित्सा के समस्त विषयों का समावेश इन आठ अंगों में हो जाता है। चरकसंहिता (सूत्र, अ. 30) में अगदतन्त्र को 'जांगुलिकम्' नाम दिया गया है। राजवार्तिक में भी इसी अर्थ में 'जांगुलिकप्रक्रम' शब्द आया है।

'कषायपाहुड़' पर वीरसेन ने'जयधवला'नामक अपूर्ण टीका लिखी। इसको उनके ही शिष्य जिनसेन ने ई. 837 में पूर्ण किया। इस टीका में द्वादशांग श्रुत के अंतर्गत 'प्राणावाय पूर्व' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया गया है—

'प्राणावायावाद नामक पूर्व दस प्रकार के प्राणों की हानि और वृद्धि का वर्णन करता है। पांच इन्द्रियां, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—ये दस प्रकार के प्राण हैं। आहार निरोध आदि कारणों से उत्पन्न हुए कदलीघातमरण के निमित्त से आयु-प्राण की हानि हो जावे, परन्तु आयु-प्राण की वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नवीन स्थितिबंध की वृद्धि हुए बिना उत्कर्षण के द्वारा केवल सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति-वृद्धि नहीं हो सकती है। यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आठ अपकर्षों के द्वारा आयु-कर्म का बंध करने वाले जीवों के आयु-प्राण की वृद्धि देखी जाती हैं। यह 'प्राणावाय-प्रवाद पूर्व' हाथी, घोड़ा, मनुष्य आदि से सम्बन्ध रखने वाले अष्टांग आयुर्वेद का कथन करता है। यह उपर्युक्त कथन का तात्पर्य समझना चाहिए। आयुर्वेद के आठ अंग कौन से हैं, बताते हैं—शालाक्य, कायचिकित्सा, भूततंत्र, शल्य, अगदतंत्र, रसायनतंत्र, बालरक्षा और बीजवर्धन—ये आयुर्वेद के आठ अंग हैं।

(कषायपाहुड, जयधवला टीका, पेज्जदोसंदिहत्ते, 1, गा. 1।3)।

गोम्मटसार 'जीवकण्ड' की गाथा 366 की कर्नाटवृत्ति में निम्न प्रकार से प्राणावाय का अर्थ स्पष्ट किया गया है—

'प्राणानामावाद: प्ररूपणमस्मिन्निति प्राणावादं द्वादशं पूर्व्वं मदु। कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेदं भूतिकर्मजं जांगुलिप्रक्रमं ईला पिंगला सुषुम्नादिबहुप्रकार प्राणापानविभागमं दशप्राणगलुपकारकापकारकद्रव्यं गलुमं गत्याद्यनुसारदिंवर्णिसुमुल्लिद्विलक्षगुणित पंचाशदुत्तरषट्शतपदगलुत्रयोदशं कोटिगलप्पुवं बुदत्थं। 13 को 130000000।'

जीवतत्वप्रदीपिका संस्कृत छाया— "प्राणानां आवाद: प्ररूपणमस्मिन्नति प्राणावादं द्वादशं पूर्वं, तच्च कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेदं भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमं इलापिंगलासुषुम्नादिबहुप्रकारं प्राणापानविभागं दशप्राणानां उपकारकापकारकद्रव्याणि गत्याद्यनुसारेण वर्णयति। तत्र द्विलक्षगुणितपंचाशदुत्तरषट्छतानि पदानि त्रयोदशकोट्य इत्यर्थ: 13 को.।"

—"प्राणों का आवाद-कथन जिसमें है वह प्राणावाय नाम बारहवां पूर्व है। वह कायचिकित्सा आदि अष्टांग—आयुर्वेद, जननकर्म, जांगुलिप्रक्रम, ईड़ा-पिंगला-सुषुम्ना आदि अनेक प्रकार के प्राण—अपान, 'श्वासोच्छ्वास' के विभाग का तथा दस प्राणों के उपकारक-अपकारक द्रव्यों का, गति आदि के अनुसार वर्णन करता है। उसमें दो लाख से गुणित छह सौ पचास अर्थात् तेरह करोड़ पद हैं।"

श्वेताम्बर मान्यता में प्राणावाय का अन्य नाम 'प्राणायु' पूर्व भी है। आयु और प्राणों के भेद-प्रभेदों का विस्तार से निरूपण होने के कारण इसे 'प्राणायु' कहते हैं। ('प्राणावाय' शब्द की निरुक्ति भी ऐसी ही है)।

दृष्टिवाद के इस पूर्व की पदसंख्या दिगम्बर मत में 13 करोड़ और श्वेताम्बर मत में 1 करोड़ 56 लाख थी। पद का तात्पर्य शब्द है। अर्थसमाप्ति का नाम पद है। जिन अक्षरों के समुच्चय से कोई अर्थ प्रकट हो वह पद है। परन्तु जैन-आगम में श्रुतज्ञानरूप द्वादशांग के परिमाण में अधिकार माना गया है। पद के निश्चित स्वरूप के ज्ञान हेतु अब कोई परम्परा विद्यमान नहीं है।[1]

'प्राणावाय' की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार शारीरशास्त्र (Anatomy and Physiology) और चिकित्साशास्त्र—इन दोनों विषयों का वर्णन 'प्राणावाय' में मिलता है। इसके साथ 'योगशास्त्र' भी अनुस्यूत है।

निश्चय ही, बाह्य हेतु-शरीर को सबल और उपयोगी बनाकर आभ्यन्तर-आत्म साधना व संयम के लिए जैन आचार्यों ने 'प्राणावाय' (आयुर्वेद) का प्रतिपादन कर अकाल जरा-मृत्यु को दूरकर दीर्घ और सशक्त जीवन हेतु प्रयत्न किया है; क्योंकि, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों की प्रप्ति के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अनिवार्य है—

---

[1] **जै. सा. बृ. इ. भाग** 1, **पृ.** 51–52

"धमार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।"

जैन-ग्रन्थ 'मूलवार्त्तिक' में आयुर्वेद-प्रणयन के सम्बन्ध में कहा गया है-"आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपत्तेः ।" अर्थात् अकाल जरा (वार्धक्य) और मृत्यु को उचित उपायों द्वारा रोकने के लिए आयुर्वेद का प्रणयन किया गया है ।

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूपी चतुर्विध जैन–संघ के लिए चिकित्सा उपादेय है। आगमों का अभ्यास, पठन-पाठन प्रारम्भ में जैन यति-मुनियों तक ही सीमित था। जैन धर्म के नियमों के अनुसार यति–मुनियों और आर्यिकाओं के रुग्ण होने पर वे श्रावक-श्राविका से अपनी चिकित्सा नहीं करा सकते थे। वे इसके लिए किसी से न तो कुछ कह सकते थे और न कुछ करा सकते थे। अतएव यह आवश्यक था कि वे अपनी चिकित्सा स्वयं ही करें अथवा अन्य यति-मुनि उनका उपचार करें। इसके लिए प्रत्येक यति-मुनि को चिकित्सा विषयक ज्ञान प्राप्त करना जरूरी था। कालान्तर में जब लौकिक विद्याओं को यति-मुनियों द्वारा सीखना निषिद्ध माना जाने लगा तो दृष्टि-वाद संज्ञक आगम, जिसमें अनेक लौकिक विद्याएं शामिल थीं, का पठन-पाठन-क्रम बन्द हो गया। शनैः शनैः उसका लोप ही हो गया। यह परिस्थिति ई. चौथी और पांचवी शती में आगमों के संस्करण और परिष्कार के लिए हुई क्रमशः 'माथुरी' और 'वालभी' वाचनाओं से बहुत पहले ही हो चुकी थी। अतः इन वाचनाओं (मुनि-सम्मेलनों) में दृष्टिवाद को छोड़कर अन्य एकादश आगमों पर तो विचार–विमर्श हुआ, परन्तु 'दृष्टिवाद' उपलब्ध नहीं हो सका। अतः उसे व्युच्छिन्न मान लिया गया। इस प्रकार इस अंग की परम्परा सर्वथा लुप्त हो गयी अथवा विकलरूप में कहीं कहीं (विशेषतः दक्षिण भारत में) प्रचलित रही।

सम्पूर्ण 'दृष्टिवाद' में धर्माचरण के नियम, दर्शन और नीति सम्बन्धी विचार, विभिन्न कलाएं, ज्योतिष, आयुर्वेद (चिकित्सा शास्त्र), शकुनशास्त्र, निमित्तशास्त्र, यन्त्र-तन्त्र आदि विज्ञानों, शिल्पों और विषयों का समावेश होता है। दुर्भाग्य से अब दृष्टिवाद का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। बाद के साहित्य में उनका विकीर्णरूप से उल्लेख अवश्य मिलता है। महावीर-निर्वाण (ईसवी पूर्व 527) के लगभग 160 वर्ष बाद 'पूर्वों' सम्बन्धी ज्ञान क्रमशः नष्ट हो गया। समस्त चौदह पूर्वों का अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही था। वह महाप्राणव्रत हेतु नेपाल जा चुका था। अतः कुछ मुनियों को इसके ज्ञान हेतु नेपाल भेजा गया। केवल स्थूलभद्र ही पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर सका। अतः शनैः शनैः इस ज्ञान का नष्ट होना स्वाभाविक था।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार भद्रबाहु के 181 वर्ष बाद हुए विशाखाचार्य से धर्मसेन तक दस 'पूर्वों' (अंतिम चार पूर्वों को छोड़कर) का ज्ञान प्रचलित रहा। उसके बाद उनका ज्ञाता कोई आचार्य नहीं रहा। 'षट्खण्डागम' के वेदनात्मक अध्याय के प्रारम्भिक सूत्र में दस पूर्वों और चौदह पूर्वों के ज्ञाता मुनियों को नमस्कार किया गया है। इस सूत्र की टीका मे वीरसेनाचार्य ने स्पष्ट किया है कि 'पहले दस पूर्वों के

ज्ञान से कुछ मुनियों को अनेक प्रकार की महाविद्याएं प्राप्त होती हैं, उससे सांसारिक लोभ और मोह उत्पन्न होता है और वे वीतरागी नहीं हो पाते। लोभ-मोह को जीतने से ही श्रुतज्ञान प्राप्त होता है।' समस्त पूर्वों के उच्छिन्न होने के कारणों की मीमांसा करते हुए डॉ. हीरालाल जैन ने लिखा है- "ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त के जिन पूर्वों में कलाओं, विद्याओं, यन्त्र-तन्त्रों व इन्द्रजालों का निरूपण था, वे सर्वप्रथम ही मुनियों के संयमरक्षा की दृष्टि से निषिद्ध हो गये। शेष पूर्वों के उच्छिन्न हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि उनका जितना विषय जैन-मुनियों के लिए उपयुक्त व आवश्यक था, उतना द्वादशांग के अन्य भागों में समाविष्ट कर लिया गया था, इसलिये इन रचनाओं के पठन-पाठन में समय-शक्ति को लगाना उचित नहीं समझा गया।"[1]

'प्राणवाय' का अवतरण और परम्परा— जैन आयुर्वेद 'प्राणावाय' का ऊपर उल्लेख किया गया है। इसका विपुल साहित्य प्राचीनकाल में अवश्य रहा होगा। अब केवल उग्रादित्याचार्य विरचित 'कल्याककारक' नामक ग्रंथ मिलता है।[2]

प्राणावाय का अवतरण कैसे हुआ और उसकी जनसमाज तक परम्परा कैसे प्रचलित हुई? इसका स्पष्ट वर्णन इस ग्रंथ के प्रस्तावना अंश में मिलता है।[3] उसमें कहा गया है—प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव (आदिनाथ) के समवसरण में उपस्थित होकर भरत चक्रवर्ती आदि भव्यो ने कहा कि "पहले 'भोगभूमि' में लोग परस्पर स्नेह का बर्ताव करने वाले तथा कल्पवृक्षों से अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करने वाले हुए। उसके बाद कालवशात् 'कर्मभूमि' का रूप हुआ। इसमें देवों ने तो दीर्घायु प्राप्त की, परन्तु मनुष्यों मे वात-पित्त-कफ के प्रकोप से भयंकर व्याधियां उत्पन्न हुई। शीत, अतिताप, हिम, वृष्टि से पीड़ित तथा कालक्रम से मिथ्या आहार-विहार के वशीभूत मनुष्यों के लिए आपही शरणागत हैं। अत: अनेकविध रोगों के भय से अतिदु:खी तथा आहार व भेषज की युक्ति (सोच-समझकर उपयोग करने की विधि) को नहीं जानने वाले मनुष्यों के लिए स्वास्थ्य-रक्षण का विधान (नियमादि) तथा रोगियों के लिए चिकित्सा (क्रिया) का वर्णन कीजिये।" इस प्रकार समस्त संसार की हितकामना से प्रमुख गणधर—पुर: सर भरत चक्रवर्ती भगवान् आदि प्रधानपुरुष से निवेदन कर चुप हो गए। इस पर भगवान् ऋषभदेव के मुख से दिव्यवाणी के रूप में शारदा देवी प्रकट हुई। इस वाणी में समस्त आयुर्वेद को सर्वप्रथम पुरुष, रोग, औषध और काल— इन चार वर्गों में विभक्त करते हुए निरूपण किया गया। इस 'वस्तु-चतुष्टय' में संक्षेप से समस्त लक्षण भेद-प्रभेद आदि बताते हुए संपूर्ण विषय का प्रतिपादन हुआ। इससे भगवान् की सर्वज्ञता सूचित हुई।

---

[1] **डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. 53।**

[2] **उग्रादित्य कृत 'कल्याणकारक' ग्रथ संस्कृत में है, जिसे शोलापुर (महाराष्ट्र) से सन् 1940 में पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।**

[3] **क. क. 1।1-10।**

इस प्रकार भगवान् की दिव्य वाणी के रूप में प्रकटित चार तत्वों वाले समस्त परमार्थशास्त्र (चिकित्साशास्त्र) को साक्षात् 'गणधर परमेष्ठी' ने प्राप्त किया। इसके बाद गणधर द्वारा निरूपित इस शास्त्र को निर्मल बुद्धि वाले चार 'मुनियों' ने प्राप्त किया। इस प्रकार तीर्थंकर ऋषभदेव के बाद यह शास्त्र तीर्थंकर 'महावीर' तक चलता रहा (सिद्धमार्ग से प्रचलित रहा)। यह समस्त शास्त्र अत्यंत विस्तृत, दोषहीन, गंभीर, अर्थयुक्त, स्वयंभू (तीर्थंकर की वाणी से उद्भूत होने के कारण, सनातन (परम्परागत प्रचलित) है। इसे 'श्रुतकेवलियों' के मुख से श्रुत अर्थात् आगम-अंगों को धारण करने वाले मुनियों ने साक्षात् रूप से सुना है।[1] इस अवतरण-परम्परा से स्पष्ट होता है कि प्राणावाय (आयुर्वेद) का ज्ञान तीर्थंकरों ने प्रतिपादित किया है। अतः इसका आगम में समावेश है। इनसे गणधरों ने, उनसे प्रतिगणधरों ने, उनसे श्रुतकेवली और उनसे—बाद में होने वाले मुनियों ने क्रमशः सुनकर प्राप्त किया। (यह श्रुतज्ञान है)।

इसी से, उग्रादित्याचार्य 'कल्याणकारक' में प्रतिज्ञा करता है कि उसने 'तीर्थंकरों की वाणी रूप सागर की तरंग से उठी हुई बूंदों के समान, समस्त लोक-हित की कामना से मैंने यह 'कल्याणकारक' ग्रंथ बनाया है'।[2]

जैनों द्वारा प्रतिपादित और मान्य 'प्राणावायावतरण' (आयुर्वेदावतरण) की यह परम्परा आयुर्वेदीय चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता आदि संहिता-ग्रन्थों में प्राप्त परम्पराओं से सर्वथा भिन्न और नवीन है।

'कल्याणकारक' में प्राणावाय सम्बन्धी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है। उसमें लिखा है—'पूज्यपाद' ने शालाक्य पर, 'पात्रस्वामी' ने शल्यतंत्र, 'सिद्धसेन ने विष और उग्र ग्रह-शमनविधिका, 'दशरथ गुरु' ने कायचिकित्सा पर, 'मेघनाद' ने बाल रोगों पर और 'सिंहनाद ने वाजीकरण और रसायन पर वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी।[3] इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि—'समन्तभद्र' ने विस्तारपूर्वक आयुर्वेद के आठ अंगों पर ग्रन्थ की रचना की थी (जिसप्रकार वाग्भट ने 'अष्टांगसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था)। समन्तभद्र के अष्टांगविवेचनपूर्ण ग्रन्थ के आधार

---

1 दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चात् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपंचमष्टार्धनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः॥
एवं जिनांतरनिबंधनसिद्धमार्गा दायातमायतमनाकुलमर्थगाढम्।
स्वायंभुवं सकलमेव सनातनं तत् साक्षाच्छ्रुतं श्रुतदलैः श्रुतकेवलिभ्यः॥"
(क. क. 1।9-10)

2 प्रोद्यज्जिनप्रवचनामृतसागरान्तः प्रोद्यत्तरंगनिसृतालपसुशीकरं वा।
वक्ष्यामहे सकललोकाहितैकधाम कल्याणकारकमिति प्रथितार्थयुक्तम्।

3 क. का. 20/85।

पर ही उग्रादित्य ने संक्षेप में अष्टांगयुक्त 'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ की रचना की।[1]

'कल्याणकारक' में वर्णित उपर्युक्त प्राणावाय सम्बन्धी सभी ग्रन्थ अब अनुपलब्ध हैं। पूज्यपाद के वैद्यक ग्रन्थ की प्रति भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना के संस्कृत हस्तलेख-ग्रन्थागार में सुरक्षित है। यह संदिग्ध है। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि पूज्यपाद के संस्कृत कल्याणकारक का कन्नड़ में अनूदित ग्रन्थ अब भी मिलता है, जो सोमनाथ का लिखा हुआ है।

प्राणावाय का प्राचीन साहित्य 'अर्धमागधी' भाषा में लिखा हुआ था। उसी विशाल साहित्य के आधार पर सारसंग्रह करते हुए गुरुओं की कृपा से सब-प्राणिकल्याण की कामना से उग्रादित्य ने संस्कृत भाषा में 'कल्याणकारक' ग्रन्थ की रचना की थी—

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषविशेषोज्वलप्राणवायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुगणैरुद्भासिसौख्यास्पदं शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः।
(क. का., अ. 25, श्लो. 54)

कल्याणकारक प्राणवाय-परम्परा का अंतिम ग्रन्थ प्रतीत होता है।

संक्षेप में, प्राणावाय की परम्परा अब लुप्त हो चुकी है। इसके ग्रंथ, 'कल्याणकारक' को छोड़कर, अब नहीं मिलते। 'कल्याणकारक' का रचनाकाल 8वींशती (अंतिमचरण) है।

साहित्य—

अतः स्पष्ट है कि प्राणावाय की यह प्राचीन परम्परा मध्ययुग से पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी। क्योंकि प्राणावाय के परम्परागत शास्त्रों के आधार पर या उनके साररूप में ई. आठवी शताब्दी के अन्त में दक्षिण के आन्ध्र प्रान्त के प्राचीन चालुक्य (पूर्वी) राज्य में दिगम्बर आचार्य उग्रादित्य ने 'कल्याणकारक' की रचना की थी। यही एक मात्र ऐसा ग्रंथ मिलता है जिसमें प्राणावाय की प्राचीन परम्परा और शास्त्र-ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस काल के बाद किसी भी आचार्य या विद्वान् ने 'प्राणावाय' का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया।

मध्ययुग में प्राणावाय–परम्परा के लुप्त होने के अनेक कारण हो सकते हैं। प्रथम, चिकित्साशास्त्र एक लौकिक विद्या है। अपरिग्रहव्रत का पालन करने वाले जैन साधुओं और साध्वियों के लिए इसका सीखना निष्प्रयोजन था, क्योंकि वे भ्रमणशील होने से एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते रहते थे, श्रावक–श्राविकाओं की चिकित्सा करना उनके लिए निषिद्ध था, क्योंकि इससे मोह और परिग्रह–वृत्ति उत्पन्न होने की संभावना रहती है। साधु या साध्वी केवल साधु या साध्वी वर्ग की चिकित्सा कर सकते थे। संयमशील साधुओं का जीवन वैसे ही प्रायशः नीरोग और दीर्घायु होता था। अतः साधुओं और मुनियों ने चिकित्सा कार्य को सीखना धीरे–धीरे त्याग दिया। परिणामस्वरूप जैन परम्परा में प्राणावाय की परम्परा का क्रमशः लोप होता गया।

---

[1] क. क. 20।86।

दक्षिण भारत में तो फिर भी ईसवीय आठवीं शताब्दी तक प्राणावाय के ग्रन्थ मिलते हैं। परन्तु उत्तरी भारत में तो वर्तमान में प्राणावाय का प्रतिपादक एक भी प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि यह परम्परा उत्तरी भारत में बहुत काल पहले से ही लुप्त हो गई थी। फिर ईसवीय बारहवीं शताब्दी में हमें जैन श्रावकों और यति-मुनियों द्वारा निर्मित आयुर्वेदीय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। ये ग्रन्थ प्राणावाय परम्परा के नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें कहीं पर भी प्राणावाय का उल्लेख नहीं है। इनमें पाये जाने वाले रोगनिदान, लक्षण, चिकित्सा आदि का वर्णन आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों के समान है। ये ग्रन्थ संकलनात्मक और मौलिक— दोनों प्रकार के हैं। कुछ टीका ग्रंथ हैं— जो प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों पर देशी भाषा में या संस्कृत में लिखे गये हैं। कुछ ग्रंथ पद्यमय भाषानुवाद मात्र हैं। वर्तमान में पाये जाने वाले अधिकांश ग्रंथ इस प्रकार के हैं। जैन परम्परा के अन्तर्गत श्वेताम्बरी साधुओं में यतियों और दिगम्बरी साधुओं में 'भट्टारकों' के आविर्भाव के बाद इस प्रकार का साहित्य प्रकाश में आया। यतियों और भट्टारकों ने अन्य परम्परात्मक जैन साधुओं के विपरीत स्थान-विशेष में अपने निवास बनाकर जिन्हें 'उपाश्रय' (उपासरे) कहते हैं, लोकसमाज में चिकित्सा, तन्त्र-मन्त्र (झाड़ा-फूंकी) और ज्योतिषविद्या के बल पर प्रतिष्ठा प्राप्त की। जैन साधुओं मे ऐसी परम्पराएं प्रारम्भ होने के पीछे तत्कालीन-सामाजिक व्यवस्था कारणीभूत थी। भारतीय समाज में नाथों, शाक्तों, महायानी बौद्धों आदि का प्रभाव लौकिक विद्याओं—चिकित्सा, रसायन, जादू-टोना, झाड़ा-फूंकी, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र आदि के कारण विशेष बढ़ता जा रहा था। ऐसे समाज के सम्मुख अपने सम्मान और मान्यता को कायम रखने हेतु श्रावकों को प्रभावित करना आवश्यक था, जो इन लौकिक विज्ञानों और विद्याओं के माध्यम से अधिक सरल और स्पष्ट था। अतः सर्व-प्रथम दिगम्बर मत में भट्टारकों की परम्परा स्थापित हुई, बाद में उसी के अनुसरण पर श्वेताम्बरों में यतियों की परम्परा प्रारम्भ हुई। इनके स्थान प्रायः जैन मंदिरों में कायम हुए। ये उपासरे, जहां एक और श्रावकों और उनके बच्चों को लौकिक विद्याओं (गणित व्याकरण आदि) की शिक्षा और धर्मोपदेश के केन्द्र थे तो वहीं दूसरी ओर चिकित्सा तन्त्र--मन्त्र और ज्योतिष आदि के स्थान भी थे। इन यतियों और भट्टारकों ने योग और तन्त्र-मन्त्र के बल पर अनेक सिद्धियां प्राप्त कर ली थीं, चिकित्सा और रसायन के अद्‌भुत चमत्कारों से जन सामान्य को चमत्कृत और आकर्षित किया था और ज्योतिष की महान् उपलब्धियां प्राप्त की थीं।

दक्षिण में भट्टारकों का प्रभाव विशेष परिलक्षित हुआ। इन्होंने 'रसायन' के क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त की। कुछ अंश में प्राणावाय-परम्परा के समय 8वीं शताब्दी तक ही रसायनचिकित्सा अर्थात् खनिज द्रव्यों और पारद के योग से निर्मित औषधियों द्वारा रोगशमन के उपाय, अधिक प्रचलित हुए। दक्षिण में 'सिद्धसम्प्रदाय' में यह चिकित्सा विशेषरूप से प्रसिद्ध रही। दशवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत के आयुर्वेदीय ग्रन्थों में धातु-सम्बन्धी चिकित्सा प्रयोग स्वल्प मिलते हैं, जबकि आठवीं शताब्दी के

'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ में ऐसे सैंकड़ों प्रयोग उल्लिखित हैं, कुछ प्रयोग तो किन्हीं प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत किए गए हैं। कालान्तर में वह रसचिकित्सा सिद्धों और जैन भट्टारकों के माध्यम से उत्तरी भारत में भी प्रसारित हो गई और यहां भी रसग्रंथ रचे जाने प्रारम्भ हो गए। वस्तुतः रसचिकित्सा-सम्बन्धी यह देन दक्षिणवासियों की है, इसमें बहुलांश जैन-विद्वानों और आचार्यों का भाग है। इस प्रकार प्राणवाय की परम्परा के अन्तर्गत अथवा बाद में अन्य कारणों से जैन यति-मुनियों, भट्टारकों और श्रावकों ने आयुर्वेद के विकास और आयुर्वेदीय ग्रन्थों की रचना में महान् योगदान किया। ये ग्रन्थ राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, मद्रास आदि के हस्तलिखित ग्रन्थागारों में भरे पड़े हैं। दुर्भाग्य से इनमें से अधिकांश ग्रन्थ अप्रकाशित हैं और कुछ तो अज्ञात भी हैं। इनमें से कुछ काल-कवलित भी चुके हैं।

4 जैन आयुर्वेद-साहित्य

समीक्षात्मक अध्ययन विभाग—

संक्षेप में, जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत आयुर्वेद-साहित्य के अध्ययन को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

प्रथम—जैन धर्म के आगम ग्रन्थों और उनकी टीकाओं आदि में आयी हुई आयुर्वेद-विषयक सामग्री का अध्ययन।

द्वितीय—जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत 'प्राणावाय' संबन्धी ग्रंथ और आयुर्वेद सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रंथ, टीकाएं और योगसंग्रह आदि।

अपने इस शोध-अध्ययन में मैंने अग्रिम पृष्ठों में 'जैन आयुर्वेद साहित्य' के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

जैन-वैद्यक ग्रन्थ

जैन-वैद्यक-ग्रन्थों के अपने सर्वेक्षण से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं, उसके निम्न तीन पहलू हैं—

एक—जैन विद्वानों द्वारा निर्मित उपलब्ध वैद्यक साहित्य अधिकांश में मध्ययुग में (ईसवीय 12वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक) रचा गया था। कुछ ग्रन्थ दक्षिण में 7-8वीं शती के भी, दक्षिण के आन्ध्र और कर्नाटक क्षेत्रों में मिलते हैं, जैसे—कल्याण-कारक आदि। कुछ दक्षिण के ग्रन्थ इससे भी प्राचीन रहे होंगे। परन्तु ये बहुत कम हैं।
द्वितीय—उपलब्ध सम्पूर्ण वैद्यक-साहित्य में जैनों द्वारा निर्मित साहित्य उसके एक-तिहाई से भी अधिक है।

तृतीय—अधिकांश जैन वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन पश्चिमी भारत में, जैसे—पंजाब, राजस्थान, गुजरात, कच्छ, सौराष्ट्र और कर्नाटक में हुआ है। कुछ माने में राजस्थान

को इस सन्दर्भ में अग्रणी होने का गौरव और श्रेय प्राप्त है। राजस्थान में निर्मित अनेक जैन-वैद्यक-ग्रन्थों, जैसे वैद्यवल्लभ (हस्तिरुचिगणिकृत), योगचिंतामणि (हर्षकीर्ति-सूरिकृत) आदि का वैद्य-जगत् में बाहुल्येन प्रचार-प्रसार और व्यवहार पाया जाता है।

जैन विद्वानों के वैद्यक ग्रन्थ अधिकांश में मध्ययुगीन भाषाओं जैसे पंजाबी, राज-स्थानी, गुजराती, कर्णाटकी (कन्नड़) में तथा संस्कृत में प्राप्त हैं।

जैन विद्वानों द्वारा मुख्यतया निम्न संतलों पर वैद्यक-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ —

1. जैन यति-मुनियों और भट्टारकों द्वारा स्वेच्छा से ग्रन्थ-प्रणयन।
2. जैन यति-मुनियों द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति (श्रेष्ठी आदि) की प्रेरणा, अनुरोध या आज्ञा से ग्रन्थ-प्रणयन।
3. स्वतंत्र रूप से जैन श्रावक विद्वानों और चिकित्सकों द्वारा ग्रन्थ-प्रणयन। जैनविद्वानों द्वारा लिखित यह संपूर्ण आयुर्वेदवाङ्मय अनेक प्रकार का है। इसके निम्न रूप स्पष्ट हैं—

1. मौलिक-ग्रन्थ ('कल्याणकारक' आदि)
2. सार-संक्षेप-ग्रन्थ ('डम्भक्रिया' आदि)
3. संग्रह-ग्रन्थ ('योगचिंतामणि' आदि)
4. टीका-ग्रन्थ
5. अनुवाद-ग्रन्थ (भाषानुवाद और पद्यानुवाद)
6. स्तबक, टिप्पणी, टब्बा-ग्रन्थ
7. गुटके (समय-समय पर प्राप्त वैद्यक ज्ञान का संकलन)

इन सबकी कुल संख्या बहुत विशाल है।

हिन्दी-राजस्थानी के जैन वैद्यक-ग्रन्थ

हिन्दी राजस्थानी में जैन यति-मुनियों और श्रावकों द्वारा जो वैद्यक कृतियां लिखी गई हैं—उनके निम्न रूप हैं—

1. **मौलिक या स्वतंत्र पद्यमय रचना**—जैसे मान कविकृत 'कविविनोद' (1688 ई.) और 'कविप्रमोद' (1689 ई.), जिनसमुद्रसूरिकृत वैद्यकसारोद्धार या वैद्यकचिंतामणि (1680 ई. के लगभग), जोगीदासकृत 'वैद्यकसार' (1705 ई.), नयनसुखकृत 'वैद्य-मनोत्सव' (1592 ई,) मेघमुनिकृत 'मेघविनोद' (1761 ई.), गंगारामयतिकृत 'यतिनिदान' (1821 ई.)।

2. **मौलिक या स्वतंत्र गद्यमय रचना**—ये प्रायः योगसंग्रह के रूप में मिलते हैं। इनको 'गुटका' कहा जाता है। ये संकलित हैं। इनको 'आम्नायग्रन्थ' भी कहते हैं। क्योंकि इनमें पारंपरिक वैद्यक नुसखों को संग्रहीत किया गया है। ये ग्रंथ बहुत उपयोगी हैं। इनमें अनुभव-सिद्ध योग रहते हैं। कभी-कभी विशिष्ट योग के साथ उसके

प्रयोगकर्ता का नाम भी मिलता है, अथवा लेखक को वह योग जिस विशिष्ट व्यक्ति या वैद्य से प्राप्त हुआ था, उसके नाम का उल्लेख होता है। इनमें स्थानीय रूप से मिलने वाली और प्रयोग में आने वाली ओषधियों, वनस्पतियों और द्रव्यों का परिचय व प्रयोगविधि भी प्राप्त होती है। पीतांबर कृत 'आयुर्वेदसारसंग्रह' इसका अच्छा उदाहरण है। इनमें अनियमित योग संग्रह भी मिलते हैं। कुछ ग्रंथों में रोगानुसार योगों का व्यवस्थित संकलन है।

3. **मूल संस्कृत ग्रन्थ का पद्यमय अनुवाद**—संस्कृत भाषा दुरूह होने से प्रायः अनेक विद्वानों ने आयुर्वेद के उपयोगी प्रचलित ग्रन्थों का पद्यमय भाषानुवाद किया। लक्ष्मीवल्लभ ने शंभुनाथकृत 'कालज्ञान' (1684 ई.), मूत्रपरीक्षा का, समरथ ने वैद्यनाथपुत्र शान्तिनाथ की 'रसमंजरी' का (1707 ई.), रामचंद्र यति ने शार्ङ्गधरसंहिता का 'वैद्यविनोद' नाम से (1669 ई.) पद्यमय भाषाबंध किया है। अनुवादित ग्रंथ का नाम या तो वही रखा जाता है, जो मूल संस्कृत ग्रंथ का है अथवा उसका नया नाम रख दिया जाता है।

4. **मूल संस्कृत ग्रन्थों के गद्यमय अनुवाद या टीका**—संस्कृत में लिखी गई मूल विषय-वस्तुको जनसाधारण को समझाने की दृष्टि से उसपर भाषा में गद्य में टीका लिखी गई हैं। इनमें विषय को विस्तार से या संक्षेप से समझाया गया है। इसी आधार पर ये टीका-ग्रंथ तीन रूपों में मिलते हैं—

1 बालावबोध, 2 स्तबक, 3 टब्बा।

1. **बालावबोध**–'सरल और सुबोध टीका को बालावबोध कहते हैं।'[1] इसमें मूलपाठ का विवेचन विस्तार से, प्रायः छोटे-छोटे वाक्य बनाकर किया जाता है। इसी से अल्पमतिवाले सामान्य जन भी इसको आसानी से समझ सके। जैन-परम्परा में बालाबोध लिखने की प्राचीनकाल से परिपाटी मिलती है। पहले ये धर्मग्रंथों पर लिखे गये। कहीं-कहीं लेखक आपने स्वतंत्र विचार, दृष्टांत और अनुभव या कथाएं भी लिखता है। इससे लोकसाहित्य में इनका महत्व है। दीपकचंद्र वाचक ने कल्याणदासकृत 'बालतंत्र' पर 'बालावबोध' नामक गद्य में भाषाबंध लिखा है।

2. **स्तबक**–यह बालावबोध से कुछ संक्षिप्त व्याख्या होती है। इसमें केवल विषय को ही स्पष्ट किया जाता है। कहीं-कहीं अन्य ग्रंथों से उदाहरण भी दिये जाते हैं। चैनसुखयति ने बोपदेव की 'शतश्लोकी' पर 'स्तबक' भाषाटीका लिखी (1763ई.)।

3. **टब्बा**–टब्बा अत्यंत संक्षिप्त टीका होती है। मूलग्रन्थ के शब्दों के अर्थमात्र लिखे जाते हैं। इस संक्षिप्त भाषा टीका को 'टब्बा' कहते हैं। 'शब्द का अर्थ उसके ऊपर, नीचे या पार्श्व में लिखा जाता है।' चैनसुखयति ने लोलिंबराज के 'वैद्यजीवन' पर 'टब्बा' (18वीं शती) की रचना की थी।

---

[1] **डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी साहित्य, पृ.** 336-337

5. **फारसी के यूनानी चिकित्साग्रंथों का हिन्दी-राजस्थानी में पद्यमय भाषानुवाद**–यह कार्य अत्यंत दुरूह है। यूनानी चिकित्सा के अपने परिभाषिक शब्द हैं, जो भारतीय समाज में प्राय: अप्रचलित हैं। उनको यहां की भाषा में ढालना बहुत कठिन है। बीकानेर के जैन श्रावक मलूकचंद ने यूनानी वैद्यक के 'तिब्ब सहाबी' का 'वैद्यहुलास' नाम से 18वीं शती में पद्यानुवाद किया है। इस विधा का यह अच्छा उदाहरण है।

6. **भाषा में मूलग्रन्थ की सारूप पद्यमय रचना**–मूलसंस्कृत ग्रंथ के कुछ अंशों का सार लेकर राजस्थानी-हिन्दी में पद्यमय अनुवाद का कार्य भी किया गया है। इसमें पूरी रचना का अनुवाद नहीं है। इस प्रकार यह आधारित रचना के रूप में पद्य-कृति है। धर्मवर्धन या धर्मसी ने वाग्भट के अग्निचिकित्सा–प्रकरण के आधार पर 'डंभ–क्रिया' नामक छोटी सी रचना बनायी है (1683 ई.)। 'डंभ' शब्द अग्निकर्म–(डम्भन या डांभना) के लिए है।

हिन्दी-राजस्थानी में वैद्यक के भाषा-ग्रन्थों की रचना जैन विद्वानों ने अनेकविध रूपों में की है। जैन विद्वानों ने सदैव जनभाषा को अधिक मान्यता और आदर दिया। मुगलकाल में राजस्थान, गुजरात आदि क्षेत्रों में जनभाषाओं के विकास का अच्छा अवसर मिला। हिन्दी–राजस्थानी में रचनाओं के निर्माण का विस्तार सं. 1600 के बाद से ही हुआ। इससे पहले की रचनाएं, प्राकृत, अपभ्रंश या प्राचीन राजस्थानी की हैं। श्वेतांबर जैन-विद्वानों का इस क्षेत्र में बहुलता से योगदान रहा है। अनेक समर्थ कवि और चिकित्सक हुए हैं।

जैन-वैद्यक–ग्रन्थों की विशेषताएं

यह निश्चित है कि जैन आचार्यों और विद्वानों द्वारा वैद्यक–कर्म अंगीकार किये जाने पर चिकित्सा में कुछ विशिष्ट प्रभाव प्ररिलक्षित हुए। उनके द्वारा निर्मित वैद्यक-ग्रन्थों के विश्लेषण से ये प्रभाव और परिणाम विशेषताओं के रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, जो निम्न हैं—

1. अहिंसावादी जैनों ने शवच्छेदन-प्रणाली और शल्य-चिकित्सा को हिंसक कार्य मान कर चिकित्सा क्षेत्र में उन्हें अप्रचलित कर दिया। परिणामस्वरूप हमारा शारीर सम्बन्धी ज्ञान शनैः शनैः क्षीण होता गया और शल्यचिकित्सा का ह्रास हो गया।

2. जहां एक ओर जैन विद्वानों ने शल्यचिकित्सा का निषेध किया, वहां दूसरी ओर उन्होंने रसयोगों (पारद से निर्मित, धातुयुक्त व भस्में) और सिद्धयोगों का बाहुल्येन उपयोग करना प्रारम्भ किया। एक समय ऐसा आया जब सब रोगों की चिकित्सा सिद्धयोगों द्वारा ही की जाने लगी, जैसा कि आजकल ऐलोपैथिक चिकित्सा में सब रोगों के लिए पेटेन्ट योग प्रयुक्त किये जा रहे हैं। नवीन सिद्धयोग और रसयोग भी प्रचलित हुए। ये सिद्धयोग स्वानुभूत और प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत थे।

3. भारतीय वैद्यकशास्त्र के दृष्टिकोण के आधार पर (वात-पित्त-कफ के सिद्धांतानुसार) रोग–निदान के लिए नाड़ी–परीक्षा, मूत्र-परीक्षा आदि को जैन विद्वानों ने विशेष

मान्यता और प्रश्रय दिया। यह उनके द्वारा इन विषयों पर निर्मित अनेक ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

4. जैन विद्वानों ने अपने धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर ही मुख्य रूप से चिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। जैसे—अहिंसा के आदर्श पर उन्होंने चिकित्सा में मद्य, मांस और मधु के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इस अहिंसा का आपत्काल में भी पूर्ण विचार रखा गया है। 'कल्याणकारक' में तो मास–भक्षण के निषेध की युक्तियुक्त विस्तृत विवेचना स्वतंत्र रूप से की गई है।

5. चिकित्सा में जैनों द्वारा वनस्पति, खनिज, क्षार, लवण, रत्न, उपरत्न आदि का विशेष रूप से प्रचलन किया गया। इसप्रकार केवल वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निर्मित योगों का जैन विद्वानों द्वारा चिकित्सा कार्य में विशेष प्रचलन किया गया। यह आज भी सामान्य वैद्यजगत् में व्यवहार में परिलक्षित होता है।

6. सिद्धयोग चिकित्सा स्वानुभूत विशिष्ट योगों द्वारा चिकित्सा) प्रचलित होने से जैन वैद्यक में त्रिदोषवाद और पंचभूतवाद के गंभीर तत्वों को समझने और उनका रोगों से व चिकित्सा से सम्बन्ध स्थापित करने की महान् और गूढ़ आयुर्वेद–प्रणाली का ह्रास होता गया और केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही अधिक विकसित होती गई। जैनाचार्यों ने स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत प्रयोगों और साधनों द्वारा रोग–मुक्ति के उपाय बताये हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए परीक्षणोपरान्त सफल सिद्ध हुए प्रयोगों और उपायों को उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया। जैनधर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस कार्य में महान् योगदान किया है।

अनेक जैन वैद्यों के चिकित्सा एवं योगों सम्बन्धो 'गुटके' (परम्परागत नुस्खों के संग्रह, जिन्हें 'आम्नाय-ग्रंथ' कहते हैं भी मिलते हैं, जिनका अनुभूत–प्रयोगावली के रूप में अवश्य ही बहुत महत्व है।

7. जैन सिद्धांतानुसार रात्रिभोजन— निषेध आदि विषयों की युक्तिपुरःसर चर्चा भी मिलती है।

8. शरीर को स्वस्थ, हृष्टपुष्ट और निरोग रखकर केवल ऐहिक सुख भोगना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के माध्यम से आत्मिक स्वास्थ्य व सुख प्राप्त करना ही जैनाचार्यों को अभिप्रेत था। इसके लिए उन्होंने भक्ष्याभक्ष्य, सेवासेव्य आदि पदार्थों का भी उपदेश दिया है। इसका एक मात्र उद्देश्य यह है कि मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य पारमार्थिक स्वास्थ्य प्राप्त कर केवलत्व (मोक्ष) प्राप्त करना है।

9. अनेक जैन–वैद्यक ग्रंथों में प्रदेश–विशेष में होने वाली स्थानीय वनौषधियों के प्रयोग भी मिलते हैं। इनका ज्ञान उपयोग और व्यवहार की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

10. जनसामान्य में रोगनिरोधक उपायों और स्वस्थवृत्त–सद्वृत्त के प्रचार द्वारा 'Preventive Medicine का व्यावहारिक अनुष्ठान भी जैनविद्वानों द्वारा संपन्न हुआ।

11. जैन वैद्यक–ग्रंथ, अधिक संख्या में प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध है। यही लोक–जीवन के व्यवहार और प्रचार का माध्यम था। (जैन विद्वानों द्वारा कुछ ग्रंथों का भाषानुवाद व पद्यानुवाद किये जाने से अनेक आयुर्वेद के गूढ़ ग्रन्थों का सरल रूप सामने आया)। अत: जैन यति–मुनियों द्वारा उन्हीं भाषाओं में ग्रंथ लिखना आवश्यक था। फिर भी, संस्कृत में रचित जैन वैद्यक–ग्रंथों की संख्या न्यून नहीं है।

इस प्रकार जैन आचार्यों और विद्वानों द्वारा वैद्यक सम्बन्धो जो रचनाएं निर्मित की गई हैं, उन पर संक्षेप में ऊपर प्रकाश डाला गया है।

जैन–आयुर्वेद का सांस्कृतिक योगदान

भारतीय संस्कृति में चिकित्सा का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित माना गया है; क्योंकि प्रसिद्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थ 'चरकसंहिता' में लिखा है—"न हि जीवित-दानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते" (च. चि. अ. 1, पा 4, श्लो. 61)। अर्थात् जीवनदान से बढ़कर अन्य कोई दान नहीं है। चिकित्सा से कहीं धर्म, कहीं अर्थ (धन), कहीं मैत्री, कहीं यश और कहीं कार्य का अभ्यास ही प्राप्त होता है, अत: चिकित्सा कभी निष्फल नहीं होती—

"क्वचिद्धर्म: क्वचिदर्थ: क्वचिन्मैत्री क्वचिद्यश:।
कर्माभ्यास: क्वचिच्चैव चिकित्सा नास्ति निष्फला॥

(अ. हृ., उत्तरतंत्र)

अतएव प्रत्येक धर्म के आचार्यों और उपदेशकों ने चिकित्सा द्वारा लोकप्रभाव स्थापित करना उपयुक्त समझा। बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध को 'भैषज्यगुरु' का विशेषण प्राप्त था। विष्णु के अवतार के रूप में 'धन्वन्तरि' की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। शिव का एक अवतार 'लकुलीश' (नकुलीश) स्वयं विष और रसायन चिकित्सा के प्रवर्तक माने गये थे। (लकुलीश की मूर्ति के एक हाथ में नाकुली नामक वनस्पति और दूसरे हाथ में हरड या बिजोरा इस तथ्य के सूचक हैं)। इसी भांति, जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने भी चिकित्सा-कार्य को धार्मिक शिक्षा और नित्य-नैमित्तिक कार्यों के साथ प्रधानता प्रदान की। धर्म के साधनभूत शरीर को स्वस्थ रखना और रोगी होने पर रोगमुक्त करना आवश्यक है - इसलिए जैन–परम्परा में तीर्थंकरों की भी वाणी के रूप मे प्रोद्भासित आगमों और अंगों के अन्तर्गत वैद्यकविद्या को प्रतिष्ठापित किया गया है। अत: यह जैन धर्मशास्त्र का अंग है।

अद्यावधि प्रचलित जैन 'उपाश्रया' (उपासरा) प्रणाली में जहां जैन यति–मुनि सामान्य विद्याओं की शिक्षा, धर्माचरण का उपदेश और परम्पराओं का मार्गदर्शन करते रहे हैं, वहीं वे उपाश्रयों को चिकित्सा–केन्द्रों के रूप में समाज में प्रतिष्ठित करने में भी सफल हुए हैं। इस प्रकार सामान्यतया वैद्यकविद्या को सीखना और नि:शुल्क

समाज की सेवा करना जैन–यति–मुनियों के दैनिक जीवन का अंग बन गया था, जिसका सफलतापूर्वक निर्वाह भी उन्होंने ऐलोपैथिक चिकित्सा–प्रणाली के प्रचार-प्रसार होने पर्यन्त यथावत् किया हैं; परन्तु इस नवीन चिकित्सा–प्रणाली के प्रसार से उनके इस लोक–हितकर कार्य का प्रायः लोप होता जा रहा है। यही कारण रहा कि जैन आचार्यों और यति–मुनियों द्वारा अनेक वैद्यक–ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा है।

सांस्कृतिक दृष्टि से जैन विद्वानों और यति–मुनियों द्वारा समाज में चिकित्सा–कार्य करने और चिकित्सा–ग्रन्थ–प्रणयन द्वारा तथा अनेक उदारमना जैन–श्रेष्ठियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर धर्मार्थ (निःशुल्क) चिकित्सालय व औषध–शालाएं या पुण्यशालाएं स्थापित कर भारतीय समाज को योगदान प्राप्त होता रहा है। निश्चित ही, उनकी यह देन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कही जा सकती है।

———

अध्याय–2

जैन आगम–साहित्य में आयुर्वेद–सामग्री

जैन आगम साहित्य की विवेचना संक्षेप में पहले की जा चुकी है। मूल आगम साहित्य और उसके व्याख्या–साहित्य (निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका) में आयुर्वेद सम्बन्धी विपुल सामग्री सन्निहित है। उसका यहां दिग्दर्शन-मात्र प्रस्तुत किया जा रहा है।[1]

चिकित्सा

'स्थानांगसूत्र' में आयुर्वेद या चिकित्सा (तेगिच्छ, चैकित्स्य) को नौ 'पापश्रुतों' में गिना गया है। ये नौ 'पापश्रुत' इस प्रकार हैं—

1 उत्पात—रुधिर की वृष्टि आदि अथवा राष्ट्रोत्पात का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र।

2 निमित्त— अतीत काल के ज्ञान का परिचायक शास्त्र।

3 मंत्रशास्त्र।

4 आख्यायिका (आइक्खिय)—मांतगी विद्या जिससे चांडालिनी भूतकाल की बातें बताती है।

5 चिकित्सा (आयुर्वेद)

6 लेख आदि 72 कलाएं।

7 आवरण (वास्तु विद्या)

8 अण्णाण (अज्ञान)— भारत, काव्य, नाटक आदि लौकिक श्रुत।

9 मिच्छापवयण (मिथ्याप्रवान) बुद्ध-शासन आदि।

'निशीथचूर्णी' से ज्ञात होता है कि धन्वन्तरि इस शास्त्र के मूल प्रवर्तक थे। उन्होंने अपने निरंतर ज्ञान से रोगों का ज्ञान कर वैद्यकशास्त्र या आयुर्वेद की रचना की। जिन लोगों ने इस शास्त्र का अध्ययन किया, वे 'महावैद्य' कहलाये।[2]

आयुर्वेद के आठ अंगों (विभागों) का उल्लेख भी जैन आगम ग्रंथों में मिलता है। ये आठ विभाग हैं—

1 कौमारभृत्य (बालकों सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा)।

2 शालाक्य (कर्ण आदि शरीर के ऊर्ध्वभाग अर्थात् शिर के रोगों की चिकित्सा।

---

[1] **स्थानांगसूत्र** 9।6।78; **तथा सूत्रकृतांग** 22।30

[2] **निशीथचूर्णी** 15, पृ. 592

3 शल्यहृत्य (तृण, काष्ठ, पाषाण, लोहा, अस्थि, नख आदि शस्त्रों का उद्धरण)।

4 कायचिकित्सा (ज्वर, अतिसार आदि रोगों का उपशमन)।

5 जांगुली (विषघातक तंत्र)।

7 रसायन (आयु, बुद्धि आदि बढ़ाने का तंत्र)।

8 वाजीकरण (वीर्यवर्धक औषधियों का शास्त्र)।[1]

चिकित्सा के मुख्य चार पाद माने गये हैं—1. वैद्य, 2. रोगी, 3. औषधि और 4. प्रतिचर्या (परिचर्या) करने वाला (परिचारक।[2] सामान्यतया विद्या और मंत्रों, शल्यचिकित्सा और वनौषधियों (जड़ी–बूटियों) से चिकित्सा की जाती थी और इसके आचार्य यत्र–तत्र मिल जाते थे। जैसा कि निम्न उल्लेख से ज्ञात होता है—

अनाथी मुनि ने मगध सम्राट राजा श्रेणिक से कहा—"जब मैं अक्षि–वेदना से अत्यन्त पीड़ित था, तब मेरे पिता ने मेरी चिकित्सा के लिए वैद्य, विद्या और मंत्रों के द्वारा चिकित्सा करने वाले आचार्य, शल्यचिकित्सक और औषधियों के विशारद आचार्यों को बुलाया था।"[3]

चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। इनमें आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति सर्वमान्य थी। पंचकर्म–वमन, विरेचन आदि का भी विपुल प्रचलन था।[4] रसायनों का सेवन कराकर भी चिकित्सा की जाती थी।[5]

चिकित्सक

वैद्य को 'प्राणाचार्य' भी कहा जाता था।[6] पशु चिकित्सा के विशेषज्ञ भी होते थे। किसी एक वैद्य ने चिकित्सा कर एक सिंह की आंखें खोल दीं।[7]

वैद्यकशास्त्र के विद्वान (वैद्य) को 'द्रष्टपाठी' (प्रत्यक्षकर्माभ्यास द्वारा जिसने वास्तविक अध्ययन किया है) कहा गया है।[8] 'विपाकसूत्र' की निम्न पंक्तियों में तत्कालीन 'वैद्यकर्म' का सुन्दर रीति से वर्णन हुआ है—

---

[1] स्थानांगसूत्र 8, पृ. 404, विपाकसूत्र 7, पृ. 41, इन आठ अंगों का विशेष वर्णन सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ. 1।8 पर मिलता है।

[2] उत्तराध्ययन, 20।23

[3] उत्तराध्ययन, 20।22

[4] उत्तराध्ययन, 15।8

[5] बृहद्वृत्ति, पत्र 11

[6] बृहद्वृत्ति, पत्र 475

[7] बृहत्वृत्ति, पत्र 462
'केनचिद् भेषजा व्याघ्रस्य चक्षुरूद्घाटितमटव्याम्।

[8] निशीथचूर्णी 7।1757

"वैद्य अपने घर से शस्त्रकोष लेकर निकलते थे और रोग का निदान (निश्चय) कर अभ्यंग, उबटन (उद्वर्तन), स्नेहपान, वमन, विरेचन, अवदहन— (गर्म लोहे की शलाका आदि से दागना), अवस्नान (औषधियों के जल से स्नान करना), अनुवासना (यंत्र द्वारा तेल आदि को अपान द्वारा पेट में चढ़ाना), बस्तिकर्म (चर्मवेष्टन द्वारा सिर आदि में तेल लगाना, अथवा गुदा भाग में बत्ती आदि चढ़ाना), शिरावेध (शिरा को खोलकर रक्त निकालना), तक्षण (छुरे आदि से त्वचा काटना), प्रतक्षण (त्वचा का थोड़ा सा भाग काटना), शिरोबस्ति (सिर पर चर्मकोश बांधकर उसमें औषधि द्वारा संस्कृत तेल का पूरना), तर्पण (शरीर में तेल लगाना), पुटपाक (विशेष प्रकार से पकाकर औषधि या औषधि का रस तैयार करना तथा छाल, वल्ली (गुंजा आदि), मूल, कंद, पत्र, पुष्प, फल, बीज, शिलिका, (चिरायता आदि कड़वी औषध), गुटिका, औषध और भेषज्य से रोगी की चिकित्सा करते थे।"[1]

'निशीथचूर्णी' में प्रतक्षणशस्त्र, अंगुलिशस्त्र, शिरावेधशस्त्र, कल्पनशस्त्र, लौहकंटिका, संडसी, अनुवेधन शलाका, व्रीहिमुख और सूचिमुख शस्त्रों का उल्लेख मिलता है।[2] तत्कालीन अनेक वैद्यों का उल्लेख जैन आगम ग्रंथों में मिलता है और उनके द्वारा की गई चिकित्सा का वर्णन भी प्राप्त होता है।'

'विपाकसूत्र' विजयनगर के धन्वन्तरि नामक वैद्य का उल्लेख है, वह आयुर्वेद के आठ अंगों में कुशल था और राजा, ईश्वर सार्थवाह, दुर्बल, म्लान, रोगी, अनाथ, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षुक, कर्पाटिक आदि को मछली, कछुआ, ग्राह, मगर, संसुमार, बकरी, भेड़, सूअर, मृग, खरगोश, गाय, भैंस, तीतर, बत्तक, कबूतर, मयूर आदि के मांस का सेवन कराते हुए चिकित्सा करता था।[3] द्वारका में रहने वाले वासुदेव कृष्ण के धन्वन्तरि और वैतरणी नामक दो प्रसिद्ध वैद्य थे।[4]

'विजयवर्धमान' नामक गांव का निवासी 'इक्काई' नामक राष्ट्रकूट था। वह पांच सौ गांव का स्वामी था। एक बार वह अनेक रोगों से पीड़ित हुआ। उसने यह घोषणा की कि जो वैद्य (शास्त्र और चिकित्सा में कुशल), वैद्यपुत्र, ज्ञायकः (केवल शास्त्र में कुशल), ज्ञायकपुत्र, चिकित्सक (केवल चिकित्सा में कुशल) और चिकित्सक-पुत्र उसके रोग को दूर करेगा, वह विपुल धन देकर उसका सम्मान करेगा।[5]

---

[1] विपाकसूत्र 1, पृ. 8

[2] निशीथचूर्णी 11।3436

[3] विपाकसूत्र 7, पृ. 41

[4] आवश्यकचूर्णी पृ. 460

[5] विपाक सूत्र 1 पृ. 7, आवश्यकचूर्णी 2, पृ. 67, सुश्रुत, सूत्र. अ. 1।4,47-50 में तीन प्रकार के वैद्यों का उल्लेख है—केवल शास्त्र में कुशल, केवल चिकित्सा में कुशल और शास्त्र व चिकित्सा दोनों में कुशल।

उस समय के अनेक राजवैद्यों (राजा और उसके परिवार के लिए नियुक्त वद्य) का भी उल्लेख मिलता है। इनकी आजीविका का प्रबंध राज्य की ओर से होता था, किन्तु कार्य ठीक न करने पर उसकी आजीविका बन्द कर दी जाती। एक बार किसी वैद्य को जुआ खेलने की आदत पड़ गई थी। उसके वैद्यकशास्त्र और शस्त्रकोश दोनों नष्ट हो गये, इसलिए चिकित्सा करने में वह असमर्थ हो गया। उसका वैद्यकशास्त्र किसी ने चुरा लिया था और शस्त्रकोष के शस्त्रों पर जंग (जर) लग गया था। इसलिए राजा ने उसकी आजीविका बन्द कर दी।[1]

किसी राजा के वैद्य की मृत्यु हो गई, उसका एक पुत्र था। राजा ने उसे पढ़ने के लिए बाहर भेज दिया। एक बार बकरी के गले में ककड़ी फंस गई। बकरी वैद्य के पास लाई गई। वैद्य ने पूछा 'यह कहां चर रही थी?' उत्तर मिला 'बाड़े में'। वैद्य ने समझ लिया कि बकरी के गले में ककड़ी अटक गई है। उसने बकरी के गले में कपड़ा बांध कर उसे इस तरह मरोड़ा कि ककड़ी टूट गई। वैद्य का पुत्र पढ़-लिखकर राजदरबार में लौटा, राजा ने समझा कि मेधावी होने के कारण वह शीघ्र विद्या सीखकर लौट आया है और उसे सम्मानपूर्वक अपने पास रख लिया। एक बार रानी को गलगण्ड हो गया. वैद्यपुत्र ने उससे वही प्रश्न किया जो उसके गुरू ने किया था और वही उत्तर मिला। वैद्यपुत्र ने रानी के गले में वस्त्र लपेट कर उसे ऐसा मरोड़ा कि वह मर गई, यह देख कर राजा को बहुत क्रोध आया और उसने वैद्य-पुत्र को दण्डित किया।[2]

किसी राजा को अक्षिरोग हो गया। वैद्य ने देखकर आंख में आंजने के लिए गोलियां दीं। उनके लगाने से आंख में तीव्र वेदना होती थी। परन्तु वैद्य ने पहले ही राजा से वचन ले लिया था कि वेदना होने पर भी उसे वह दण्ड न देगा।[3]

रोगोत्पत्ति और रोगज्ञान

वात, पित्त, कफ और सन्निपात से होने वाले रोगों का उल्लेख मिलता है।[4]

रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बताये गये हैं—1. अत्यन्त भोजन, 2. अहितकर भोजन, 3. अतिनिद्रा, 4. अतिजागरण, 5. पुरीष का निरोध, 6. मूत्र का निरोध, 7. मार्गगमन, 8. भोजन की अनियमितता, 9. कामविकार।[5] पुरीष को रोकने से

---

[1] व्यवहार भाष्य 5।21

[2] बृहत्कल्प भाष्य पीठिका, 376

[3] बृहत्कल्प भाष्य पीठिका 1।1277

[4] आवश्यकचूर्णी पृ. 385, बृहत्कल्पभाष्य 3।4408-10

[5] स्थानांगसूत्र 9।667, (तुलना कीजिए 'मिलिन्द-प्रश्न' पृ. 135, इसमें रोग के दस कारण बताये गये हैं।)

मरण, मूत्र को रोकने से दृष्टिहानि और वमन के निरोध से कुष्ठ रोग की उत्पत्ति होती है।[1]

'दशवैकालिक' संज्ञक आगम में कहा गया है—

'मल–मूत्र के वेग को न रोके। मल-मूत्र की बाधा होने पर प्रासुक स्थान देख कर, ग्रहस्वामी की आज्ञा ले, उससे निवृत्त हो जाए।'[2]

शारीरिक वेगों को रोकने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने मलमूत्रादि के आवेगों को रोकने से होने वाले रोगों का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है—मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की ज्योति नष्ट होती है। मल का वेग रोकने से जीवनी शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्ववायु को रोकने से कुष्ठरोग उत्पन्न होता है। वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व नष्ट होता है।[3] वमन को रोकने से 'वल्गुली' या कोढ भी हो जाता है।[4]

रोग, व्याधि और आतंक में अन्तर बताया गया है। रोग से मनुष्य की मृत्यु देर से होती है, किन्तु व्याधि से वह शीघ्र मर जाता है। निम्न 16 प्रकार की व्याधियों का उल्लेख मिलता है:—

श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मूर्धशूल, अरोचक, अक्षिवेदना, कर्णवेदना, कण्डू, जलोदर और कुष्ठ।[5]

'आचाराङ्गसूत्र' में 16 रोगों का उल्लेख है—गंडी (गण्डमाला), कुष्ठ, राजयक्ष्मा, अपस्मार, काणिय (काण्य, अक्षिरोग), झिमिय (जड़ता), कुणिय (हीनाङ्गता, खुज्जिय (कुबड़ापन), उदररोग, मूकत्व, सूनीय (शोथ), गिलासणि (भस्मकरोग), वेवई (कम्पन), पीठसप्पि (पंगुत्व), सिलीवय (श्लीपद या फीलपांव) और मधुमेह।[6]

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य 3।4380

[2] दशवैकालिक 5।1।19

[3] अगस्त्य चूर्णि—
मुत्तनिरोहे चक्खु, वच्चनिरोहे य जीविय चयति।
उड्ढ निरोहे कोढ, सुक्कनिरोहे भवइ अपुमं॥
अष्टांगहृदय सूत्र-4।1-4 पर वेगनिरोधजन्य रोगों का वर्णन है।

[4] जिनदासचूर्णि पृ. 354-355
अब्भवहरिऊण मुहेण अग्गिसियं वंतं तस्स पडिपीयणं निशीथभाष्यपीठिका 230
ण तहा विहिय भवति, तं अतीव रसे न बलं, नउच्छाहकारी, विलीगतया य पडिएति, वग्गुलिं वा जणयति ततो कोढ वा जणति।

[5] विपाकसूत्र 1, पृ. 7

[6] आचारांगसूत्र 6।1।173, विपाक, 1 पृ. 7, निशीथभाष्य 11।3646, उत्तराध्ययनसूत्र 10।27, निशीथभाष्य 1।599 पर मूत्रशर्करा (मुत्तसक्कर) का उल्लेख है।

'ज्ञाताधर्मकथा' और 'विपाकसूत्र' में भी 16 रोगों का उल्लेख मिलता है —श्वास, कास (खांसी), ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मूर्धशूल, अरोचक, अक्षिवेदना, कर्णवेदना, कण्डू, जलोदर और कुष्ठ ।

(विपाकसूत्र 1, ज्ञाताधर्मकथा 13)

'सुखबोधा' में उस समय के मुख्य रोगों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं—श्वास, कास, ज्वर, दाह, हृदयशूल, भगंदर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मुखशूल, अरुचि, अक्षिवेदना, खाज, कर्णशूल, जलोदर और कोठ ।[1]

इनके अतिरिक्त दुब्भूय (दुर्भूत–ईति, टिड्डी दल द्वारा धान्य की हानि), कुल रोग, ग्रामरोग, नगररोग, मण्डलरोग, शीर्षवेदना, ओष्ठवेदना, नखवेदना, दन्तवेदना, शोष (क्षय), कच्छू, खसर (खसरा), पाण्डुरोग, एक–दो–तीन–चार दिन के अंतर से होने वाला ज्वर (विषम ज्वर), इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह,[2] स्कन्दग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह, उद्वेग, हृदयशूल, उदरशूल, योनिशूल, महामारी,[3] वल्गुली[4] (जी मिचलाना) और विषकुम्भ[5] (फुन्सी) का उल्लेख मिलता है ।

जुओं के काटने से क्षयरोग हो जाता है, अथवा खाने में जूँ पड़ जाने से वमन अथवा जलोदर हो जाता है ।[6]

चिकित्सा–प्रयोग

जैन आगम साहित्य में व्याधियों की औषधि–चिकित्सा और शल्यचिकित्सा का वर्णन मिलता है । औषधिचिकित्सा—वायु आदि का शमन करने के लिए पैर में गीध की टांग बांधी जाती थी । इसके लिए सूकर के दांत और नख तथा मेंढे के रोओं का प्रयोग भी किया जाता था ।[7]

उर्ध्ववात, अर्श, शूल आदि रोगों से ग्रस्त होने पर साध्वी को निर्लोम चर्म में

---

[1] सुखबोधा, पत्र 163

सासे खासे जरे डाहे, कुच्छिसूले भगंदरे ।
अरिसा अजीरए दिट्ठी–मूहसूले अरोयए ।।
अच्छिवेयण कंडू य, कन्नवाहा जलोदरे ।
कोढे एमाइणो रोगा, पीलयंति सरीरिणं ।।

[2] **धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो यः शरीरं कुब्जीकरोति, बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति** 3।3816

[3] **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** 24, पृ. 120; **जीवभिगम** 3, पृ. 153; **व्याख्याप्रज्ञप्ति** 316, पृ. 353 ।

[4] **बृहत्कल्पभाष्य** 5।5870

[5] **वही,** 3।3907

[6] **निशीथचूर्णीपिठीका,** 265

[7] **ओघनिर्युक्ति** 368, पृ. 134—अ.

रखने का तथा पागल कुत्ते से काटे जाने पर उसे व्याघ्र के चर्म में सुलाने का विधान मिलता है।[1] कुष्ठ रोग हो जाने पर बहुत कष्ट होता है। गलित कुष्ठ होने या शरीर में कच्छु, किटिभ[2] होने या जुएं पैदा हो जाने पर जैन श्रमणों को निर्लोम चर्म पर लिटाने का प्रयोग मिलता है।[3]

पामा की चिकित्सा के लिए मेंढे की पुरीष और गोमूत्र काम में लिया जाता था।[4]

'किमिकुट्ठ' (कृमिकुष्ठं) में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। किसी भिक्षु को कृमिकुष्ठ होने पर उसे वैद्य ने तैल, कम्बलरत्न और गोशीर्ष चन्दन बताया। तैल तो मिल गया, किन्तु कम्बलरत्न और चन्दन नहीं मिला। ये दोनों वस्तुएं एक वणिक् के पास थीं। उसने बिना कुछ लिये ही कम्बलरत्न और चन्दन दे दिये, जबकि शतसहस्र लेकर उपस्थित हुए थे। भिक्षुक के शरीर की तैल से मालिश की गई। जिससे तैल उसके रोम कूपों में भर गया, इससे कृमि संक्षुब्ध होकर नीचे गिरने लगे। साधु को कम्बल ओढा दिया गया और सब कृमि कम्बल पर लग गये, बाद में शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का लेप कर दिया गया। 2–3 बार इस प्रकार करने से साधु का कोढ़ बिल्कुल ठीक हो गया।[5]

महामारी फैलने पर लोग बहुत मरते थे, जीर्णपुर के किसी सेठ के परिवार में जब सब लोग मर गये तो लोगों ने उसके घर को कांटों से जड़ दिया।[6]

भगन्दर में से कीड़ों को निकालने के लिए व्रण के अन्दर मांस डाला जाता था ताकि कीड़े उस पर चिपट जाये। मांस के स्थान पर गेहूं के गीले आटे में मधु और घृत मिलाकर भी प्रयोग किया जाता था।[7]

वमन कराने के लिए मक्खी की विष्टा का और आंख का कचरा निकालने के

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य 3।3815–17। (चर्म के उपयोग के लिए द्रष्टव्य सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ. 7, श्लो. 14

[2] जंघासु कालाभं रसियं वहति, निशीथचूर्णी 1।798 की चूर्णी।

[3] बृहत्कल्पभाष्य 3।3839–40। प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ महावग्ग 1।30।88 पृ. 76 में उल्लेख है कि मगध में कुष्ठ, गंड़ (फोड़ा), किलास, शोथ और मृगी रोग फैल रहे थे। जीवक कौमारभृत्य को लोगों की चिकित्सा करने का समय भी नहीं मिलता था। इसलिए रोग से पीड़ित लोग बौद्ध भिक्षु बनकर चिकित्सा कराने लगे।

[4] ओघनिर्युक्ति 368, पृ. 134–अ.

[5] आवश्यकचूर्णी पृ. 133

[6] आवश्यकचूर्णी पृ. 465

[7] निशीथचूर्णी–पीड़िका 288, पृ. 100 तैल लगाने का भी विधान है, आवश्यकचूर्णी पृ. 503

लिए अश्वमक्षिका का उपयोग किया जाता था।[1] कफ की व्याधियों में सोंठ का उपयोग किया जाता था।[2]

औषधियां रखने के लिए शंख और सीप आदि काम में लिये जाते थे।[3]

औषधियों की मात्रा का ध्यान रखा जाता था।[4] शतपाक, सहस्रपाक आदि पकाये हुए तैल अनेक रोगों में काम आते थे।[5]

शिरोरोग से बचने के लिए धूम्रपान किया जाता था। धूम्रपान की नली को 'धूम्रनेत्र' कहते थे। शरीर, अन्न और वस्त्र को सुवासित करने के लिए धूम्र का प्रयोग करते थे। रोग की आशंका से बचने के लिए भी धूम्र का प्रयोग किया जाता था।[6]

बल और रूप को बढ़ाने के लिए वमन, बस्तिकर्म और विरेचन का प्रयोग होता था। बस्ति का अर्थ है, दृति। दृति से अधिष्ठान (मलद्वार) में स्नेह आदि दिया जाता था।[7]

विषचिकित्सा—

सर्पों की बहुलता होने से उनके काटने का भय भी अधिक था।[8] अतः उनके काटने की चिकित्सा करनी पड़ती थी।

सांप काटने पर या विसूचिका (हैजा) या ज्वर से ग्रस्त हो जाने पर साधु को साध्वी का मूत्रपान कराया जाता था। किसी राजा को महाविषैले सर्प ने काट लिया तो रानी का मूत्रपान कराने से वह स्वस्थ हो गया।[9] सर्प दंश होने पर मंत्र पढ़कर कटक (अष्ट धातु के बने हुए) बांध देना, या मुंह में मिट्टी भर कर सर्प के काटे हुए स्थान को चूस लेना, या उसके चारों ओर मिट्टी का लेप करना या रोगी को मिट्टी खिलाना जिससे खाली पेट में विष का प्रभाव नहीं हो, उपचार किये जाते थे।[10]

---

1 ओघनिर्युक्ति, 367, पृ. 124–अ.

2 आवश्यकचूर्णी, पृ. 405

3 ओघनिर्युक्ति, 366

4 बृहत्कल्पभाष्य पीठिका, 289

5 जिनदासचूर्णी, पृ. 259

6 ˜लक 3।9, जिनवासचूर्णी पृ. 1।5; हरिभद्रीयटीका, पत्र 118

7 जिनदासचूर्णी, पृ. 115

8 स्थानांगसूत्र 4।341, पृ. 250 (वृश्चिक, मंडूक, उरग और नर-ये चार प्रकार के सर्प बताये गये हैं। इनके छः प्रकार के विष-परिणाम होते हैं, स्थानांगसूत्र, 6, पृ. 355 अ.

9 बृहत्कल्पसूत्र 5।37; भाष्य 5।5987–88

10 निशीथभाष्यपीठिका 170 (बौद्धों के महावग्ग 6।2।9 में सर्पदंश पर गोबर, मूत्र, राख और मिट्टी के उपयोग का विधान है।

कभी–कभी सर्प दंश स्थान को दाग देने या उस स्थान को काट देने या रोगी को रात भर जगाये रखने का उल्लेख भी मिलता है ।[1]

इसके अतिरिक्त बमी की मिट्टी, लवण और परिषेक आदि भी सर्पदंश में उपयोगी कहे गये हैं ।[2] सुवर्ण को विषनाशक माना गया है । सर्प से दष्ट व्यक्ति को सुवर्ण घिसकर उसका पानी पिलाते थे । साधु लोग सुवर्ण को श्रावकों से मांगकर या दीक्षा लेने से पूर्व स्थापित निधि में से निकालकर या योनिप्राभृत की सहायता से प्राप्त कर इसका प्रयोग करते थे ।[3]

शल्य चिकित्सा—

शल्य चिकित्सा का बहुत महत्व था। व्रणचिकित्सा भी सफलतापूर्वक की जाती थी।

जैन-आगमसूत्रों में दो प्रकार के काय-व्रणों का उल्लेख है–1 तद्भव और 2 आगंतुक । 'तद्भव' व्रणों में कुष्ठ, किटिभ, दद्रु, विचिच्चिका (विचर्चिका), पामा और गण्डालिया के नाम गिनाये गये हैं । खड्ग, कटक, स्थाणू (ठूंठ), शिरावेध, सर्प या कुत्ते के काटने से उत्पन्न होने वाले व्रण-आगंतुक कहलाते हैं ।[4]

फोड़े या पिड़िका को धोकर, साफ कर उन पर तेल, घी, चर्बी और मक्खन आदि लगाया जाता था । फोड़ों पर गाय, भैंस का गोबर लगाने का भी विधान है ।[5] बड़ आदि की छाल को वेदना शांत करने के लिए काम में लेते थे ।[6]

गंडमाला, पिलग (पादगत गंड-चूर्णी), अर्श और भगन्दर का शस्त्रकर्म किया जाता था । जैन साधुओं को गुदा और कुक्षि के कृमियों को अंगुली से निकालने का निषेध है ।[7]

युद्ध में तलवार आदि से घायल होने पर व्रणों का व्रणोपचार किया जाता था । युद्ध के समय वैद्य औषध, व्रणपट्ट, मालिश का सामान, व्रण संहोरक तैल, व्रण–संहोरक चूर्ण, अतिपुराण घृत आदि लेकर चलते थे और आवश्यकता होने पर व्रणों को सीते भी थे ।[8]

---

1 **निशीथभाष्य पीठिका** 230

2 **वही 394; ओघनिर्युक्ति** 341, पृ. 129 **अ.** 366, पृ. 134–**अ., पिण्डनिर्युक्ति** 48

3 **व्यवहार भाष्य** 5।89; **आवश्यकचूर्णी** पृ. 492–93 **में विषमय लड्डू के खाने का असर शांत करने के लिए वैद्य द्वारा सुवर्ण पिलाने का उल्लेख है ।**

4 **निशीथभाष्य** 3।1501

5 **निशीथसूत्र** 3।22–24; 12।93; **निशीथभाष्य** 12–4199

6 **निशीथभाष्य** 12।4201

7 **निशीथसूत्र** 3।34
A-**वही**, 3।40

8 **व्यवहारभाष्य** 5।100–103

गंभीर व्रण आदि लगने पर व्रणकर्म किया जाता था। सुदर्शननगर में मणिरथ नामक राजा राज्य करता था। उसका सहोदर भाई युगबाहु युवराज के पद पर आसीन था। युगबाहु की स्त्री मदनरेखा को लेकर दोनों में मनमुटाव हो गया। एक दिन मणिरथ ने युगबाहु पर तलवार से वार किया, जिससे वह घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके घावों की चिकित्सा करने के लिए वैद्य बुलाये गये।[1] वैद्य घावों को भरने के लिए अनेक प्रकार के घृत और तैलों का प्रयोग करते थे। कल्याण-घृत, तिक्तघृत और महातिक्तघृत का उल्लेख मिलता है।[2] एक ही औषधि को एक सौ या हजार बार पकाया जाता था। अथवा औषधियों के साथ घृत या तैल को सौ या हजार बार पका कर तैयार किया जाता था, जिसे 'शतपाक' या 'सहस्त्रपाक' कहते थे। हंसतेल भी घाव के लिए उत्तम माना गया था। मरूतेल मरूदेश के पर्वत से मंगाया जाता था। ये सब तेल थकावट दूर करने, वात रोग शांत करने, कण्डू मिटाने और घावों को भरने के लिए प्रयुक्त होते थे।[3]

नन्दिपुर में सोरियदत्त नाम का राजा था। उसके गले में मछली खाते समय मछली का कांटा अटक गया। उसने घोषणा करायी कि जो वैद्य या वैद्य-पुत्र इस कांटे को निकाल देगा वह उसे बहुत धन देगा। अनेक वैद्य उपस्थित हुए और उन्होंने वमन, छर्दन, अवपीड़न, कवलग्रह, शल्योद्धरण और विशल्यकरण द्वारा कांटा निकालने का प्रयत्न किया, परन्तु सफलता नहीं मिली।[4]

किसी राजा के एक घोड़े के पैर में कंटक चुभ जाने से बहुत कष्ट होता था। वह अदृश्य शल्य से पीड़ित था। वैद्य को दिखाया गया। वैद्य ने घोड़े के शरीर पर कर्दम का लेप कराया। शल्य का स्थान जल्दी ही सूख गया। उसके बाद वैद्य ने शल्य को निकाल दिया।[5]

किसी राजा की महादेवी को ककड़ियां खाने का शौक था। एक दिन नौकर बड़े आकार की ककड़ी लाया। रानी ने उसे अपने गुह्यप्रदेश में डाल लिया। ककड़ी का कांटा रानी के गुह्यप्रदेश में चुभ गया, और उसका जहर फैल गया। वैद्यों को बुलाया गया। उसने गेहूं के आटे (सामिया=कणिक्को) का लेप कर दिया। कांटे वाले प्रदेश के सूख जाने पर वहां निशान बना दिया। तत्पश्चात् शस्त्रक्रिया द्वारा उसे फोड़ दिया। पीप निकलने के साथ ही कांटा भी बाहर निकल आया।[6]

---

[1] **उत्तराध्ययन टीका**, पृ. 137

[2] **कल्याणघयं तित्तगं महातित्तगं; निशीथचूर्णी** 4।1566

[3] **बृहत्कल्पभाष्य** 5।6028–31; 1।2995 **की वृत्ति; निशीथचूर्णीपीठिका** 348; 10।3197

[4] **विपाकसूत्र** 8, पृ. 48

[5] **निशीथचूर्णी** 20।6393

[6] **बृहत्कल्पभाष्य**1।1050; **शल्यनिष्कासन की विधि सुश्रुत सूत्रस्थान अ.26में दी गई है।**

पीड़िका होने पर उसकी जलन मिटाने के लिए मिट्टी का सिंचन किया जाता था।[1]

मानसिक चिकित्सा

मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा का भी आयोजन किया जाता था। भूत आदि द्वारा विक्षिप्तचित्त हो जाने पर रोगी को कोमल बन्धन से बांधकर शस्त्र आदि से रहित स्थान में रखने का विधान है। यदि कदाचित् ऐसा स्थान न मिले, तो रोगी को पहले से ही खुदे हुए कुएं में डाल दें, अथवा नया कुआं खुदवा कर उसमें रख दें और कुएं को ऊपर से ढंकवा दें, जिससे रोगी बाहर निकलकर न जा सके। यदि वात आदि के कारण धातुओं का क्षोभ होने से विक्षिप्तचित्तता हुई हो तो रोगी को स्निग्ध और मधुर भोजन दें और उपलों की राख पर सुलाये। यदि कोई साधु विक्षिप्तचित्त होकर भाग जाये तो उसकी खोज की जाय, तथा यदि वह राजा आदि का रिश्तेदार हो तो राजा से निवेदन किया जाये।[2]

साध्वी के यक्षाविष्ट होने पर भी भूत-चिकित्सा का विधान जैन आगमों में मिलता है।[3]

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

जिसमें बिना किसी द्रव्य या औषधि की सहायता से रोग की चिकित्सा की जाती है, वह दैवव्यपाश्रयचिकित्सा कहलाती है।

नक्षत्रों के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाले, स्वप्न-शास्त्री, वशीकरण के पारगामी, अतीत-अनागत और वर्तमान को बताने वाले नैमित्तिक तथा यांत्रिक सर्वत्र पाये जाते थे। लोगों का इनमें बहुत विश्वास था। सर्प, बिच्छु आदि के काटने पर मंत्रों का उपयोग होता था।[4]

अन्यान्य विषों को उतारने के लिए तथा अनेक शारीरिक पीड़ाओं के उपशमन के लिए मंत्रों का प्रयोग होता था।[5] ये लोग गांव-गाव में घूमा करते थे। संवाहन चार प्रकार से किया जाता था।[6]

1. हड्डियों को आराम देने वाला — अस्थिसुख।

---

[1] **ओघनिर्युक्ति** 341, पृ. 129-अ.

[2] **व्यवहारभाष्य** 2।।22-25; **निशीथभाष्यपीठिका** 173

[3] **बृहत्कल्पभाष्य** 6।62^2, द्र. **चरकसंहिता नि. अ.** 9

[4] **दशवैकालिक** 8 51; **हरिभद्रीयटीकापत्र**—236

[5] **जिनदासचूर्णी**, पृ. 340

[6] **वही**, पृ. 113

2. मांस को आराम देने वाला — मांससुख।
3. चमड़ी को आराम देने वाला -- त्वक्सुख।
4. रोमों को आराम देने वाला — रोमसुख।

आरोग्यशाला

जैन आगम ग्रंथों में आरोग्यशालाओं (तेगिच्छयसाला = चिकित्साशाला) का उल्लेख मिलता है। वहां वेतनभोगी अनेक वैद्य, वैद्यपुत्र, ज्ञायक, ज्ञायकपुत्र, कुशल और कुशलपुत्र आदि व्याधिग्रस्तों, ग्लानों, रोगियों और दुर्बलों की चिकित्सा विविध प्रकार की औषधियों और भेषजों द्वारा करते थे।[1]

विशेष—विस्तार के लिए लेखक की शीघ्र प्रकाश्यमान कृति "जैन आगमसाहित्य में आयुर्वेद" का अवलोकन करें।

[1] ज्ञातृधर्मकथा, 13, पृ. 943

अध्याय-3

उग्रादित्याचार्य से पूर्ववर्ती आचार्य

समंतभद्र

(ई. ४थी से ५वीं शती)

दक्षिण की दिगम्बर-आचार्य-परम्परा में समंतभद्र का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। ये प्रसिद्ध वादी, न्याय-व्याकरण-वैद्यक-सिद्धांत में निष्णात और दार्शनिक थे। ये पूज्यापाद से पूर्ववर्ती थे। 'कर्नाटक में इस महान् तार्किक का अवतरण न केवल जैन इतिहास में किन्तु समस्त-दार्शनिक साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय युगप्रवर्तक रूप में माना जाता है।'[1]

पूज्यपाद (देवनंदि) ने जैनेन्द्र-व्याकरण में इनके व्याकरण संबंधी मत को उद्धृत किया है।[2] परन्तु इनका यह व्याकरणग्रंथ अनुपलब्ध है।

भद्रबाहु, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्यों को दक्षिण के प्रसिद्ध द्रविड संघ के नंदिसंघ का बताया जाता है।

'आप्तमीमांसा' की एक हस्तप्रति के अनुसार समन्तभद्र उरगपुर (वर्तमान उरैयूर, तामिलनाडु) के राजकुमार थे। 'जिनस्तुतिशतक' के एक पद्य से ज्ञात होता है कि इनका मूल नाम शांतिवर्मा था[3]

श्रवणबेलगोला के चंद्रगिरि पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथमंदिर में लगे 'मल्लिषेण प्रशस्ति' शिलालेख (सन् 1128) में कहा गया है कि इनको 'भस्मकव्याधि' हुई थी, जिसपर इन्होंने विजय पायी थी, पद्मावती देवी से उदात्तपद प्राप्त किया था,अपने मंत्रों से चंद्र-प्रभ की मूर्ति प्रकट की थी। कलिकाल में इन्होंने जैन धर्म को प्रशस्त बनाया, सब तरफ से कल्याणकारी होने के कारण (भद्रं समन्ताद्) ये 'समन्तभद्र' कहलाये—

'वन्द्यो भस्मक भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवतादत्तोदात्तपदः स्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः।
आचार्यः स समन्तभद्रगणभृद् येनेह काले कलौ जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्ताद् मुहुः ।।'[5]

---

[1] पं. कैलाशचद्र शास्त्री, दक्षिण भारत में जैन धर्म, पृ. 142

[2] 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (5।4।140)

[3] पं. कैलाशचंद्र शास्त्री, दक्षिण भारत में जैन धर्म, पृ. 181

[4] वीरशासन के प्रभावक आचार्य (भा. ज्ञानपीठ) पृ. 33

[5] जैन शिलालेख संग्रह, भाग 1, पृ. 102 पर यह शिलालेख छपा है।

प्रभाचंद्र के 'कथाकोश' में भी कहा गया है कि समन्तभद्र ने अपनी 'भस्मक' व्याधि के शमन के लिए वेश बदलकर अनेक स्थानों पर भ्रमण किया, अंत में वाराणसी के शिव मंदिर में विपुल नैवेद्य से उनका रोग दूर हुआ। वहां के राजा ने उनको शिव को प्रणाम करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' की रचना की। उसी समय 'चन्द्रप्रभस्तुति' के पठन के समय शिवलिंग से चंद्रप्रभ की मूर्ति प्रकट हुई। श्रवण बेलगोला के उक्त शिलालेख के अनुसार बाद में उन्होंने पाटलिपुत्र, मालव, सिन्धु, टक्क (पंजाब), कांची, विदिशा और करहाटक (कर्हाड, महाराष्ट्र) में वादों में विजय प्राप्त कर जैन मत को प्रतिष्ठित किया।[1]

उन्होंने जैन साहित्य में संस्कृत के उपयोग को पुरस्कृत किया। तार्किक दृष्टि से जैन मत को प्रतिष्ठापित किया।

'आप्तमीमांसा' या 'देवागमस्तोत्र' इनकी 'युगप्रवर्तक' रचना है। इसमें महावीर के उपदेशों का तर्क-भूमि पर प्रतिपादन करते कुछ 'स्याद्वाद' का सर्वप्रथम विस्तार से वर्णन किया गया है। 'युक्त्यनुशासन' में विविध एकांत वादों को दोषयुक्त प्रमाणित करते हुए 'अनेकान्त' वाद को स्पष्ट किया था। 'स्वयम्भूस्तोत्र' और जिनस्तुतिशतक में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। 'रत्नकरण्ड' में श्रावकों के लिए सम्यक् 'दर्शन' 'ज्ञान' और 'चरित्र' के रूप में गृहस्थ–धर्माचरण का विस्तार से स्पष्टीकरण किया गया है। समंतभद्र का साहित्य विस्तृत नहीं है, परन्तु मौलिक होने से बहुत प्रतिष्ठित है।

इनका काल वीर नि. सं. की दसवीं शती (373 से 473 ई.) माना जाता है। कुछ विद्वान ई. दूसरी या तीसरी शती मानते हैं। ऐसी मान्यता है कि समन्तभद्र कर्नाटक के कारवार जिले के होन्नावर ताल्लुके (तहसील) के गेरसप्पा के समीप 'हाडालिल' में पीठ बनाकर निवास करते थे। इस स्थान को 'संगीतपुर' भी कहते हैं। कन्नड भाषा में 'हाड्ड' का अर्थ संगीत और 'हाल्ली' का अर्थ नगर या पुर है। अत: हाडलिल का संस्कृत नाम संगीतपुर है। यहां चन्द्रगिरि और इन्द्रगिरि नामक दो पर्वत हैं। इन पर समंतभद्र तपश्चरण करते थे। गेरसप्पा के जंगल में अब भी शिलानिर्मित चतुर्मुख मंदिर, ज्वालामालिनी मंदिर और पार्श्वनाथ का जैन चैत्यालय है। वहां दूरी तक प्राचीन खंडहर, मूर्तियां आदि मिलते हैं, जिससे वहां विशाल बस्ती होना प्रमाणित होता है। ऐसी किंवदन्ती है कि यहां जंगल में एक 'सिद्धरसकूप' है। कलियुग में धर्मसंकट पैदा होने पर इस रसकूप का उपयोग होगा। 'सर्वांजन' नामक अंजन आंख में आंजने से इस कूप को देखा जा सकता है। इस अंजन का प्रयोग समन्तभद्र के 'पुष्पायुर्वेद' ग्रंथ में दिया गया है - अंजन के निर्माण हेतु पुष्प भी इसी वन में मिलते हैं।

---

[1] वीर शासन के प्रभावक आचार्य, पृ. 32-33

समन्तभद्र वैद्यक और रसविद्या में भी निपुण थे। उनके अनेक रसयोग प्रचलित हैं।

समन्तभद्र से पूर्व भी अनेक जैन–मुनियों ने वैद्यकग्रंथों की रचना की थी। समन्तभद्र ने अपने 'सिद्धांतरसायनकल्प' ग्रंथ में लिखा है—

'श्रीमद्भल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनिः सूतवादे रसाब्जं'

अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है—

'रसेन्द्रं जैनागमसूत्रबद्धं'

इससे जैन आगम में पूर्व से अनेक वैद्यक व रसवाद संबंधी ग्रंथ विद्यमान होना प्रमाणित होता है। वे सब रचनाएं अब कालकवलित हो चुकी हैं। समन्तभद्र भी अच्छे चिकित्सक थे। उनके निम्न वैद्यक-ग्रंथों का पता चलता है, ये ग्रंथ अलभ्य हैं—

समन्तभद्र के वैद्यक-ग्रंथ

1. **अष्टांगसंग्रह (अष्टांग आयुर्वेद)**

आयुर्वेद के आठ अंगों पर विषय का निरूपण करने वाला यह विस्तृत ग्रंथ था। 'कल्याणकारक' के रचयिता उग्रादित्याचार्य (8वीं–9वीं शती) ने समन्तभद्र के अष्टांगसंग्रह के आधार पर संक्षेप में इस ग्रंथ का प्रतिपादन किया है—

'अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारककमशेषपदार्थयुक्तम्।।

(प. 20।86)

यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

2. **सिद्धान्तरसायनकल्प—**

यह ग्रन्थ भी अनुपलब्ध है। इसमें अठारह हजार श्लोक होना बताया जाता है। परन्तु अब इसके कुछ वचन इधर–उधर विकीर्ण रूप से ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इनको एकत्रित करने पर उन श्लोकों की संख्या भी दो-तीन हजार तक पहुंच जाती हैं।

इसमें आयुर्वेद के आठ अंगों—काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वांग, शल्य, दंष्ट्रा, जरा और विष का विवेचन था।[1]

यह ग्रन्थ जैन आयुर्वेद के ग्रन्थों में अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसमें जैन सिद्धांतानुसार विषयों का विवेचन है।

1. सभी औषधयोग हिंसावर्जित है। अहिंसा जैनधर्म का मुख्य तत्व है। उसका इसमें सर्वत्र पालन किया गया है।

---

[1] जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 226।

2. इसमें जैन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग और संकेत भी उपयोग किये गये हैं। इससे जैनसिद्धांतों का प्रकाशन भी होता है। जैसे 'रत्नत्रयोषध' कहने से जैनसिद्धांतानुसार सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र—इन तीन रत्नों का ग्रहण होता है, दूसरे अर्थ में पारद, गंधक और पाषाण ये तीनों पदार्थ लिये जाते हैं। इनसे निर्मित रसायन वात, पित्त, कफ – त्रिदोषों को नष्ट करता है। अत: ये औषध हैं। इस रसायन का नाम भी 'रत्नत्रयौषध' रखा गया है।

3. औषधि–निर्माण–कल्पना में द्रव्यों के मानों को तीर्थंकरों की संख्या और चिह्नों के द्वारा सूचित किया गया है। जैन तीर्थंकरों के पृथक्-पृथक् लांछन या चिह्न माने गए हैं। तत् तत् चिह्न से तत् तत् तीर्थंकर की और उनके संख्या की सूचना मिलती है। जैसे रससिंदूर निर्माण हेतु कितना पारद व गंधक लिया जाय, इसके लिए कहा है—'सूतं केसरि गंधकं मृगनवासारद्रुमं'। यहां सूत अर्थात् पारद की मात्रा 'केसरि' और गंधक की मात्रा 'मृग' शब्द से कही गयी है। केसरि महावीर का चिह्न है और महावीर 24वें तीर्थंकर हैं। अत: पारद की मात्रा 24 भाग लेनी चाहिए। मृग 16वें तीर्थंकर का चिह्न होने से गंधक की मात्रा 16 भाग लेनी चाहिए। इन सांकेतिक और पारिभाषिक शब्दों का 'सिद्धांतरसायनकल्प' में सर्वत्र उपयोग हुआ है। इस ग्रंथ में 'रससिंदूर' के गुण इस प्रकार बताये गये हैं—

> 'सिंदूरं शुद्धसूतो विषधरशमनं रक्तरेणुश्च वर्णं।
> वातं पित्तेन शीतं तपनिलसहितं विंशतिर्मेहं हन्ति ।।
> तृष्णोदावार्तगुल्मं पिशगुदररजो पांडुशोफोदराणां।
> कुष्ठं च अष्टादशघ्नं सकलव्रणहरं सन्निशूलाग्रगंधि ।।
> दीपाग्नि धातुपुष्टि वडवशिखिकरं दीपनं पुष्टितेजं।
> बालस्त्रीसौख्यसंगं जरामरणरुजाकांतिमायु:प्रवृद्धि ।।
> वाचाशुद्धि सुगानां (?) सकलरुजहरं देहशुद्धि रसेंद्र:।[1]

पुष्पायुर्वेद

आचार्य समंतभद्र ने इसमें 18000 प्रकार के परागरहित पुष्पों से निर्मित रसायनौषधि–प्रयोगों के विषय में बताया है। वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने लिखा है—"इस पुष्पायुर्वेद ग्रंथ में क्रि. पू. 3 रे शतमान की कर्णाटक लिपि उपलब्ध होती है जो कि बहुत मुश्किल से बांचने में आती हैं। इतिहास संशोधकों के लिए यह एक अपूर्व व उपयोगी विषय है। अठारह हजार जाति के केवल पुष्पों के प्रयोगों का ही जिसमें कथन हो, उस ग्रंथ का महत्व कितना होगा यह भी पाठक विचार करें। अभी तक पुष्पायुर्वेद का निर्माण जैनाचार्यों के सिवाय और किसी ने भी नहीं किया है। आयुर्वेद संसार में यह एक अद्भुत चीज है।"[2]

---

[1] कल्याणकारक, प्रस्तावना, पृ. 36 [2] कल्याणकारक, प्रस्तावना, पृ. 38

पूज्यपाद (464–524 ई.)

जैनाचार्यों में पूज्यपाद का स्थान व्याकरण, वैद्यक, योगशास्त्र, रसशास्त्र और दर्शन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह दिगम्बर–सम्प्रदाय के जैन आचार्य थे। इनका वास्तविक नाम 'देवनन्दि' था। 'जैनेन्द्रबुद्धि' और 'पूज्यपाद'—ये दो नाम इनकी विशेषताओं को प्रदर्शित करने की दृष्टि से प्रचलित हुए थे।[1] संक्षेप में इनको 'देव' नाम से भी जाना जाता था। श्रवणबेलगोला के 40 वें शिलालेख में लिखा है—

'यो 'देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥2॥

'श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥3॥

'जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा सिद्धांते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।

छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदामाख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥4॥

इनका पहला नाम 'देवनन्दि' था, बाद में यह बुद्धि की महत्ता के कारण 'जिनेन्द्रबुद्धि' और देवताओं व मुनियों द्वारा इनके चरणों की पूजा किये जाने से 'पूज्यपाद' कहलाये। वस्तुतः ये लोक–पूजित होने के कारण पूज्यपाद कहलाने लगे।

आचार्य शुभचंद्र ने अपने 'ज्ञानार्णव' के प्रारंभ में देवनन्दि का स्मरण करते हुए लिखा है—

'अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥[2]

---

[1] यशः कीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामति।
श्रीपूज्यपादाख्यो गुणनन्दी गुणाकरः ॥ (नन्दीसंघपट्टावली)

[2] लगभग ऐसी ही बात चक्रपाणिदत्त ने चरकसंहिता की अपनी टीका के प्रारम्भ में चरक मुनि के संबंध में कही है—

"पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥"

पातंजल 'योगशास्त्र', व्याकरण पर 'महाभाष्य', चरकसंहिता के 'प्रतिसंस्कार' की रचना द्वारा क्रमशः मन, वाणी और शरीर के दोषों दूर करने के वाले भगवान् शेषनाग को नमस्कार है।

कहा जाता है कि योग, व्याकरण और वैद्यक पर रचना करने वाले पतंजलि तथा चरक मुनि दोनों ही शेषनाग के अवतार थे।

अर्थात् जिनकी वाणी देहधारियों के शरीर, वचन और मन के मल को दूर कर देती है, ऐसे देवनन्दी को नमस्कार करता हूं ।' इससे स्पष्ट होता है कि देवनन्दी की वाणी तीन भागों में विभक्त थी । ये वाणी–विभाग उनके तीन प्रमुख ग्रंथों को सूचित करते हैं । उन्होंने शरीर के मल को दूर करने के लिए 'वैद्यकशास्त्र' और वचन के मल को दूर करने के लिए 'व्याकरण' और मन के मल को दूर करने के लिए 'समाधितंत्र' की रचना की थी ।

शिमोगा जिले (कर्नाटक) के नगर तहसील के 46वें (पद्मावती मन्दिर में एक शिला पर खुदे हुए) शिलालेख में पूज्यपाद के संबंध में लिखा है कि उन्होंने—'अपने जैनेन्द्र व्याकरण पर न्यास, पाणिनी के व्याकरण पर शब्दावतार नामक न्यास, वैद्यक-शास्त्र और तत्वार्थ की टीका लिखी ।' मूलवचन देखें—

'न्यासं जैनेंद्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादस्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितव–चः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ।।'

पूज्यपाद ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे । इनका 'जैनेन्द्र व्याकरण' बहुत प्रसिद्ध है । 'मुग्धबोध' के कर्ता कवि बोपदेव (1200 ई.) ने आठ प्राचीन व्याकरणों में जैनेन्द्र का भी परिगणन किया है ।[1] जैन आचार्यों द्वारा संस्कृत में लिखा हुआ संभवतः यह प्रथम व्याकरण ग्रन्थ है ।

पूज्यपाद ने उमास्वामी के 'तत्वार्थसूत्र' पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका लिखी थी।

इनके 'समाधितंत्र' में 100 श्लोक हैं । इसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं । यह अध्यात्म संबंधी योगपरक ग्रन्थ है ।

पूज्यपाद के 'इष्टोपदेश', 'दशभक्ति' और 'सिद्धप्रियस्तोत्र'–ग्रंथ भी मिलते हैं ।

काल—पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि. सं. 526 में दक्षिण मथुरा (मदुरा) में 'द्राविडसंघ' की स्थापना की थी । इस तथा अन्य प्रमाणों से पूज्यपाद का काल विक्रमी छठी शताब्दी का प्रारम्भ प्रमाणित होता है ।[2]

यह कर्णाटक क्षेत्र के निवासी थे । इनके नाम से प्रचलित सब कृतियां संस्कृत और कन्नडी भाषा में मिलती हैं । वहां इनकी प्रसिद्धि सर्वत्र व्याप्त रही ।

'हिस्ट्री ऑफ दी कनड़ी लिटरेचर' के अनुसार विक्रम की आठवीं शताब्दि के बाद कनड़ी भाषा में जितने काव्य–ग्रन्थ लिखे गये हैं, प्रायः उन सभी के प्रारंभिक श्लोकों में पूज्यपाद की प्रशंसा की गई है ।

---

1 'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ।।' — —धातुपाठ ।

2 नाथूराम प्रेमी, 'जैनसाहित्य और इतिहास', पृ. 115–117

'चन्द्रय्य' नामक कवि ने कनड़ी में 'पूज्यपादचरित' लिखा था। इस चरित्र के अनुसार—"कर्नाटक देश के 'कोले' नामक ग्राम के 'माधवभट्ट' नामक ब्राह्मण और 'श्रीदेवी' ब्राह्मणी से पूज्यपाद का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने बालक को त्रिलोकपूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम 'पूज्यपाद' रक्खा गया। माधवभट्ट ने अपनी स्त्री के कहने से जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टजी के साले का नाम 'पाणिनी' था, उसे भी उन्होंने जैनी बनने को कहा, लेकिन प्रतिष्ठा के खयाल से वह जैनी न होकर मुंडीगुंडग्राम में वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपाद की 'कमलिनी' नामक छोटी बहिन हुई, वह 'गुणभट्ट' को ब्याही गई, और गुणभट्ट को उससे 'नागार्जुन' नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपाद ने एक बगीचे में एक सांप के मुंह में फंसे हुए मेंढक को देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनी अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरणकाल निकट आया जानकर पूज्यपाद से कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनी दुर्ध्यानवश मर कर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यपाद को देखकर फूत्कार किया, इस पर पूज्यपाद ने कहा, विश्वास रक्खो, मैं तुम्हारे व्याकरण को पूरा कर दूंगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनी व्याकरण को पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक, ज्योतिष आदि के कई ग्रंथ रच चुके थे।

गुणभट्ट के मर जाने से नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया। पूज्यपाद ने उसे पद्मावती का एक मंत्र दिया और सिद्ध करने की विधि भी बतला दी। उसके प्रभाव से पद्मावती ने नागार्जुन के निकट प्रकट होकर उसे सिद्ध-रस की वनस्पति बताला दी।

इस सिद्ध-रस से नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्व का परिहार करने के लिए पूज्यपाद ने एक मामूली वनस्पति से कई घड़े सिद्ध-रस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतों को स्वर्णमय बनाने लगा, तब धरणेन्द्र-पद्मावती ने उसे रोका और जिनालय बनाने को कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद पैरों में गगनगामी लेप लगा कर विदेहक्षेत्र को जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दि ने अपने साथियों से झगड़ा करके द्राविड़ संघ की स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मंत्र तंत्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियां आईं जो गाने नाचने में कुशल थीं। नागार्जुन उन पर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत समय तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव–विमान में बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। मार्ग में एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने शान्त्यष्टक बनाकर ज्यों की त्यों करली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राम मे आकर समाधिपूर्वक मरण किया।"[1]

यद्यपि उपर्युक्त कथानक अनैतिहासिक और अविश्वसनीय है, तथापि इसमें कुछ सत्यांश मौजूद है। इससे निम्न तथ्यों की सूचना मिलती है—

1. पूज्यपाद कर्णाटक प्रदेश के निवासी थे।
2. इन्होंने 'व्याकरण' पर रचना की थी।
3. यह तंत्र–मंत्र, रसविद्या और योगशास्त्र के ज्ञाता थे। चमत्कारी रसप्रयोगों में भी उन्होंने गति प्राप्त की थी। गगनगामी प्रयोग भी वे जानते थे। दिव्य वनस्पतियों से उनका परिचय था।
4. नागार्जुन से पूज्यपाद का कोई संबंध था। पूज्यपाद से नागार्जुन ने रसविद्या सीखी थी।
5. योगविद्या में वे निपुण होने से योग एवं समाधि द्वारा उन्होंने देहत्याग किया था।

इन तथ्यों की पुष्टि प्रकारान्तर से हो जाती है। 'हठयोगप्रदीपिका' में पूज्यपाद की हठयोग के प्रभाव से सिद्धि प्राप्त करने वाले 'महासिद्धों' मे गणना की गई है, जो काल की सीमा लांघकर नित्य जगत् में विचरण करते हैं।[2]

श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित 'सिद्धरबसति' के स्तम्भ पर सन् 1433 का शिलालेख उत्कीर्ण है।[3] उसमें निम्न श्लोक पूज्यपाद के संबंध में निर्दिष्ट है -

'श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिः जीयाद् विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार॥'

अर्थात् पूज्यपाद मुनि को औषध ऋद्धि प्राप्त थी, उन्होंने विदेह के तीर्थंकर का दर्शन किया था और उनके चरणों के प्रक्षालन के जल के स्पर्श से 'कालायस' (लोहा) का सोने में परिवर्तन हो जाता था।

ज्ञानसागर की तीर्थवन्दना के अनुसार पूज्यपाद का नेत्ररोग पाली नगर में 'शांतिनाथस्तुति' की रचना से शांत हुआ था।[4]

बताया जाता है कि गंगवश का राजा दुर्विनीत पूज्यपाद का शिष्य था।

---

[1] नाथूराम प्रेमी, जैनसाहित्य और इतिहास, पृ. 123–124

[2] हठयोगप्रदीपिका, अ. 1, श्लोक 6–9 पर इन महासिद्धों को गिनाया गया है।

[3] जैन शिलालेखसंग्रह, भाग 1, पृ. 211

[4] वीरशासन के प्रभावक आचार्य, पृ. 39–40

पूज्यपाद रस–सिद्ध थे। अनेक रसयोग उनके नाम से मिलते हैं। वसवराजीय, रसप्रकाशसुधाकर और कल्याणकारक में उनका उल्लेख मिलता है।[1]

देवरस (ई. 1650) ने अपने 'गुरुदत्त चरिते' में लिखा है कि कर्नाटक के पुगताटक कस्बे के समीप एक पहाड़ी पर पार्श्वजिन की बस्ती थी। पूज्यपाद स्वामी ने इसी पहाड़ी पर अपने 'सिद्धरस' की परीक्षा की थी।[2]

पूज्यपादकृत वैद्यकग्रंथ—

जैसा कि ऊपर बताया गया है पूज्यपाद ने वैद्यकशास्त्र की रचना भी की थी। इस कृति की बहुत प्रतिष्ठा थी। अब यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं होता। शिमोगा जिले के नगर ताल्लुके के 46वें शिलालेख में स्पष्टतया पूज्यपाद द्वारा वैद्यशास्त्र लिखा जाना बताया गया है।

दक्षिण के 'सिद्ध-सम्प्रदाय' में पूज्यवाद का अन्तर्भाव माना जाता है।

इनके निम्न वैद्यक ग्रन्थों के विषय में जानकारी मिलती है—

पूज्यपादीय—

12वीं शती के उत्तरार्ध में लिखे गये दक्षिण के ही 'बसवराजीयम्' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रथमप्रकरण में आधारभूत-ग्रन्थों में पूज्यपादकृत 'पूज्यपादीय' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है

'सिन्दूरदर्पणं तद्वत्पूज्यपादीयमेव च।'

वसवराजीय में बीच-बीच में आंध्रभाषा में टिप्पणियां या स्पष्टीकरण भी दिया गया है जो मूलतः ग्रंथकर्ताकृत है।

इस ग्रंथ में पूज्यपादकृत अथवा 'पूज्यपादीय' से उद्धृत निम्न योग, वचन और अभिमत मिलते हैं।[3]

1. त्रिरात्रज्वरलक्षणम् (पूज्यपादीये), पृ. 8
2 पच्यमानज्वरलक्षणम् (पूज्यपादीये), पृ. 21
3. 'सर्वज्वरादिहरगुटिका (नित्यनाथीये), पृ. 29
   "जीर्णज्वरं सततसन्ततकं प्रणाशं रोगाग्निहन्ति कथितं वरपूज्यपादैः॥"
4. 'ज्वरगजांकुशः (माधवनिदाने), पृ. 30
   पूज्यपादोपदिष्टोयं सर्वज्वरगजांकुशः' ॥

---

[1] सोमदेव शर्मा, रससिद्ध–विमर्श, पृ. 14

[2] पं, कैलाशचन्द्र शास्त्री, दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृ. 161

[3] यहां पृष्ठ संख्या का निर्देश 'बसवराजीयम्' – गोवर्धन शर्मा छांगाणी द्वारा संशोधित व संपादित, नागपुर, 1930 का है।

4. ज्वराणां 'चण्डभानुरसः' (नित्यनाथीये), पृ. 30
'मूलव्याध्यन्धकारप्रशमनतपनः कुष्ठरोगापहन्ता
नाम्नायं चण्डभानुः सकलगदहरो भाषितः पूज्यपादैः ।।'
5. ज्वराणां 'कालाग्निरुद्ररसः' (पूज्यपादीये), पृ. 33
6. पुराणज्वराणां 'त्रिनेत्ररसः' (पूज्यपादीये), 34
7. पुराणज्वराणां महालवंगादिचूर्णम् (पूज्यपादीये), पृ. 41
'भृंगाख्यं चैकबाहुं सकलगदहरं भाषितं पूज्यपादैः ।'
8. पुराणज्वरक्षयादीनामेलादिचूर्णम् (पूज्यपादीये), पृ. 42
'एलाद्यं योगराजं सकलजनहितं भाषितं पूज्यपादैः ।'
9. सप्तविधदोषमारकोपद्रवाः, पृ. 60
"यो हृष्टरोमा रक्ताक्षः सहिक्काश्वासशूलवान् ।
विभ्रान्तलोचनं मूढं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।। (पूज्यपादीये)"
10. क्षयरोगाणां 'लोकनाथरसः' (पूज्यपादीये), पृ. 78
11. पाण्डुरोगमारकोपद्रवाः, पृ. 81
'पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत् ।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ।।' (पूज्यपादीये)
12. 'शाफमुद्गररसः (ग्रंथान्तरे), पृ. 85
"शोफमुद्गरनाम्नाऽयं पूज्यपादेन निर्मितः ।"
13. भ्रमणादिवातानां 'गंधकरसायनम्, पृ. 110
'मनुष्यानां हितार्थाय पूज्यपादेन निर्मितः ।'
14. वातादिरोगाणां त्रिकटुकादिनस्यम् (पूज्यपादीये), पृ. 111
'पूज्यपादकृतो योगो नराणां हितकाम्यया' ।
15. 'त्रिनेत्ररसः' पूज्यपादीये, पृ. 143
16. कृष्णकासलक्षणम् (पूज्यपादीये), पृ. 145
17. कृष्णकासे 'रसेन्द्रगुटिका', पृ. 145
18. मेहपिटिकोपद्रवाः (पूज्यपादीये), पृ. 160
19. प्रमेहपिटिकाभेदाः (पूज्यपादीये), पृ. 160
20. शीतमेहे 'नागेन्द्रगुटिका' (पूज्यपादीये), पृ. 163
21. 'मृतसंजीवनीगुटिका' (सिद्धरसार्णवे), पृ. 197
'मृतसंजीवनी ह्येषा पूज्यपादैरुदीरिता ।'
22. 'पुनर्नवादितैलम्' (पूज्यपादीये), पृ. 198
23. ऋष्यजिह्वककुष्ठे 'शैलेन्द्ररसः' पूज्यपादीये, पृ. 213
24. सर्वोपदंशानां 'व्याधिहरणरसः; पृ. 232
'अयं व्याधिहरः सूतः पूज्यपादेन निर्मितः ।'

25. 'जम्बवादिघृतम् (पूज्यपादीये), पृ. 247
26. 'गरूडाञ्जनम्' (पूज्यपादीये), पृ. 266
27. 'स्थौल्यान्तकरस:' (पूज्यपादीये), पृ. 274
28. 'पारदादिगुटिका' (पूज्यपादीये), पृ. 291
29. परिणामशूललक्षणम् (पूज्यपादीये) पृ. 294–295
30. अपस्मारोन्मादानां 'प्रसिद्धनस्यानि (पूज्यपादीये , पृ. 305–306
31. कालस्फोटादिलक्षणचिकित्से (पूज्यपादीये), पृ 348
32. भृंगराजतैलम्, पृ. 357

'तैल रहस्यं परमं वलीपलितनाशनम् (पूज्यपादीये)'

इस संकलन से ज्ञात होता है कि पूज्यपाद के 'पूज्यपादीय' ग्रंथ में निदान और चिकित्सा का विस्तार से वर्णन होगा। इनमें अधिकांश रसयोग सम्मिलित थे। अनेक योगों के अन्त में 'पूज्यपादेन भाषित' ऐसा उल्लेख होने से इन योगों का प्रथम निर्माण (आविष्कार) करने का श्रेय पूज्यपाद को है।

कल्याणकारक—

यह ग्रंथ 'अकलंकसंहिता' नाम से जैनसिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार) से प्रकाशित हुआ है। ग्रंथ के प्रारम्भ में दिये गये[1] पद्यों से इस ग्रंथ का नाम 'कल्याणकारक' और 'वैद्यसारसंग्रह' या 'सारसंग्रह' सूचित होता है। इसमें वाग्भट, सुश्रुत, हारीतमुनि, रुद्रदेव आदि आचार्यों के ग्रन्थों से मत व वचन लेकर मधुसंचय किया गया है। इसे विजय उपाध्याय द्वारा निर्मित बताया गया है।

इसमें समन्तभद्र के रसयोग (पृ. 1 से), पूज्यपाद के रस, चूर्ण, गुटिका आदि योग (पृ. 6 से 32), तथा गोम्मटदेव कृत 'मेरुदण्डतत्र' से नाडीपरीक्षा और ज्वरनिदान आदि का वर्णन है (पृ. 33 से आगे)। यह ग्रथ पूज्यपाद द्वारा विरचित नहीं लगता। यह एक सग्रह-ग्रंथ है। गुम्मटदेव का काल पूज्यपाद से परवर्ती है।

पूज्यपाद ने कल्याणकारक की रचना शारीरिक दोषों के निवारण हेतु की थी। इसमें जैन परंपरा का अनुसरण करते हुए विभिन्न जैन तीर्थंकरों के चिन्हों से परिभाषाएं बतायी है।

---

[1] 'नम: श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
कल्याणकारको ग्रंथ: पूज्यपादेन भाषित: ।।
× × × ×
सर्वं लोकोपकारार्थं कथ्यते सारसंग्रह:।
श्रीमद् वाग्भटसुश्रुतादिविमलश्रीवैद्यशास्त्रार्णवे,
भास्वत् ...सुसारसंग्रहमहावामान्विते संग्रहे।
मन्त्रज्ञैरुपलभ्य सद्विजयगणोपाध्यायसन्निर्मिते,
ग्रन्थेऽस्मिन् मधुपाकसारनिचये पूर्णं भवेन्मंगलम्।

कल्याणकारक (कानड़ी)

जगद्दल सोमनाथ ने पूज्यपाद कृत 'कल्याणकारक' का कानडी भाषा में अनुवाद किया था। अतः इसे 'कर्णाटक-कल्याणकारक' कहते हैं। लेखक जैन था। जगद्दल सोमनाथ का काल 1150 ई. है।

इसमें ग्रंथ-पीठिका-प्रकरण, परिभाषा-प्रकरण, षोडशज्वर-चिकित्सा-निरूपण प्रकरण आदि अष्टांग वैद्यक का वर्णन है।[1]

'कन्नड़ में चिकित्सा-शास्त्र का यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सभी उपचार निरामिष और मद्य-रहित हैं।'[2]

इससे स्पष्ट है कि पूज्यपाद के मूल 'कल्याणकारक' में भी मद्य, मांस और मधु का प्रयोग नहीं किया गया था। पूज्यपादकृत मूल 'कल्याणकारक' ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं है।

वैद्यामृत—

गोम्मटदेव ने अपने 'मेरूतंत्र' नामक वैद्यक ग्रन्थ में पूज्यपाद को गुरू बताते हुए उनके 'वैद्यामृत' नामक ग्रन्थ का उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया है—

'सिद्धांतस्य च वेदिनो जिनमते जैनेन्द्रपाणिन्य च।
कल्पव्याकरणाय ते भगवते देव्यालियाराधिपा (?)।।
श्रीजैनेन्द्रवचस्सुधारसवरैः वैद्यामृतो धार्यते।
श्रीपादास्य सदा नमोस्तु गुरवे श्रीपूज्यपादो मुनेः।।

संभवतः यह ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में रहा होगा। अब यह अनुपलब्ध है।

शालाक्य तंत्र—

उग्रादित्याचार्य (8वीं शती अन्त) ने अपने 'कल्याणकारक' ग्रंथ में पूज्यपाद के 'शालाक्यतंत्र' का उल्लेख किया है। 'शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितम्' (परिच्छेद 20, श्लोक 85)। इसमें अनेक स्थलों पर 'पूज्यपादेन भाषितः' ऐसा लिखा है।

नाडीपरीक्षा—

पूज्यपाद की यह स्वतंत्र रचना या किसी ग्रन्थ का भाग हो सकता है।[3]

निदानमुक्तावली—

यह छः पत्रों का छोटा सा निदान का ग्रन्थ है। इसमें दो प्रकार के अरिष्ट बताये गये हैं—1. कालारिष्ट और 2. स्वस्थारिष्ट।

ग्रन्थारंभ में लिखा है—

---

[1] पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, कल्याणकारक की भूमिका, पृ. 39-40

[2] याजदानी, दकन का प्राचीन इतिहास, पृ. 416

[3] जिनरत्नकोष, पृ. 210

'रिष्टं दोषं प्रवक्ष्यामि सर्वशास्त्रेषु सम्मतम् ।
सर्वप्राणिहितं दृष्टं कालारिष्टं च निर्णयम् ।।'

ग्रन्थ में कहीं पूज्यपाद का नाम नहीं है, किन्तु अन्त में 'पूज्यपादविरचितम्' ऐसा लिखा है ।[1]

मदनकामरत्नम्[2]

यह मुख्यतया कामशास्त्र एवं वाजीकरण विषयक ग्रन्थ है । इसमें प्रारम्भ में महापूर्णचंद्रोदय, अग्निकुमार, ज्वरबलफणिगरूड़, कालकूट, रत्नाकर, उदयमार्त्तण्ड, सुवर्णमाल्य, प्रतापलंकेश्वर, बालसूर्योदय और अन्य ज्वर आदि रोगों के लिए रसयोग, कपूर के गुण, मृगहारभेद, कस्तूरीभेद कस्तूरीगुण, कस्तूर्यनुपान, कस्तूरीपरीक्षा, कामदेव के पर्याय, 34प्रकार के कामेश्वररस, वाजीकरण औषध, तैल, लिंगवर्धनलेप, पुरुषवश्यकारी औषध, गुटिका निर्माण की विधि, कामसिद्धि के लिए मंत्र प्रयोग आदि विषयों का निरूपण है ।

ग्रन्थ अपूर्ण और पद्यबद्ध है - इसका कर्ता पूज्यपाद कहा गया है ।

नेत्रप्रकाशिका[3]—

यद्यपि यह ग्रन्थ नन्दिकेश्वर द्वारा विरचित बताया गया है, परन्तु ग्रन्थारम्भ में लिखा है कि पूज्यपाद ने इसका हयग्रीवमुनि के लिए उपदेश दिया था—

"पूज्यपादस्तथा सम्यग् हयग्रीवमुनिं प्रति ।
उवाच वचनं पुण्यं कैवल्यफलदं शुभम् ।।"

इसमें नेत्ररोगचिकित्सा उमामहेश्वरसंवाद के रूप में वर्णित है । यह सिद्ध-ग्रंथ है ।

रत्नाकरौषधयोगग्रंथ (रत्नाकराद्यौषधयोगग्रंथ)[4]

यह पूज्यपादकृत रचना है ।

समाधिशतकम्[5] — पूज्यपादकृत ।

सिद्धान्तिभाष्यम्— यह निदानमुक्तावली का भाष्य है ।

इसके कर्ता स्वयं पूज्यपाद हैं ।

'निदानमुक्तावली' की पुष्पिका में लिखा है—

"श्रीमज्जठरदेशिकमन्त्रवादषड्भाषाकविचक्रवर्तिश्रीपूज्यपादस्वामिविरचिते
सिद्धान्तिभाष्ये अरिष्टनिदानो द्वादशोध्याय: ।"[6]

---

[1] राजकीय हस्तलिखित ग्रंथागार, मद्रास, ग्रंथांक 13161, 13162, 13163

[2] राजकीय हस्तप्रति ग्रंथागार मद्रास, ग्रंथांक 13299; इस पर तेलुगु में अर्थ भी दिया हुआ है ।

[3] सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजौर, ग्रंथांक 11073

[4] राजकीय हस्तलिखित ग्रंथागार, मद्रास, ग्रंथांक 13190, 13191

[5] वही पृ. 14794

[6] राजकीय ह. ग्रंथागार, मद्रास, केटलॉग, खंड XXIII. पृ. 8858, 'निदानमुक्तावली'।

रसरत्नाकर[1]—

रुदन्त्यादिकल्प—[2]

औषधयोगग्रंथ[3]—

मदस्नुहीरसायनम्[4]

वैद्यकग्रन्थ[5]— यह कन्नड़ी भाषा में है, कहीं-कहीं संस्कृत श्लोक भी उद्धृत हैं। इस हस्तप्रति के पत्र 82 पर पूज्यपाद का उल्लेख है—

'यिदं गन्धकरसायेन सर्वलोकोपकारणं सर्वभूतहितार्थय पूज्यपादेन भाषितं'। वस्तुतः ग्रन्थरचना नवीन है और किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा विरचित है।

उपर्युक्त रचनाओं का संबंध सिद्ध-परम्परा से है। निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इनमें से कितनी रचनाएं वास्तव में पूज्यपादकृत हैं।

1360 ई. के लगभग 'मंगराज' ने विषचिकित्सा पर 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक विस्तृत ग्रन्थ कन्नड़ी में लिखा था। इसमें पूज्यपाद को गुरुभाव से स्मरण किया गया है और उनके ग्रन्थ से ही इस ग्रन्थ की विषय सामग्री संग्रहित किये जाने का उल्लेख है।

पात्रकेसरि या पात्रस्वामी (6ठी शती)

कहा जाता है कि ये दक्षिण के अहिच्छत्रनगर के राजपुरोहित थे। यह समन्तभद्र की आप्तमीमांसा को पढ़कर अत्यंत प्रभावित हुए और इन्होंने जैनधर्म अंगीकार कर लिया। ये दिगम्बर थे। बौद्धों द्वारा प्रतिपादित हेतु के लक्षण का खंडन करने के लिए इन्होंने पद्मावती देवी की कृपा से 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक ग्रंथ लिखा था। श्रवणबेलगोला के मल्लिषेणप्रशस्ति (सन् 1 28) में इस प्रसंग का उल्लेख है—

'महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥[6]

उग्रादित्याचार्यकृत 'कल्याणकारक' में इनके 'शल्यतंत्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। यह ग्रन्थ भी अब प्राप्त नहीं है। 'शल्यतंत्रं च पात्रस्वामिप्रोक्त' (क.का. 20।85)

---

[1] वही, पृ. 8892, ग्रंथांक 13199, 13200, 13201

[2] वही. पृ. 8898, ग्रंथांक 13212

[3] वही, पृ. 8818

[4] सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजोर, ग्रंथांक 11233

[5] भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, ग्रंथांक 243 (ग्रं. 1066, रिपोर्ट 1889-91)

[6] जैन शिलालेखसंग्रह, भाग 1, पृ. 103

इनका काल वीरनिर्वाण की ग्यारहवीं शती (5वी–6ठी शती ई.) माना जाता है ।[1]

सिद्धसेन

यह दक्षिण के प्राचीन प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य थे, जिन्होंने 'अगदतंत्र' (विष) और 'भूतविद्या' (उग्रग्रहशमन) पर ग्रंथ लिखा था । यह अब अप्राप्य है ।

उग्रादित्याचार्य ने 'कल्याणकारक' (प. 20।85) में इनका उल्लेख किया है—'विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः ।' अतः इनका काल 8वीं शती से पूर्व का प्रमाणित होता है । इनके काल व स्थान का विशेष परिचय नहीं मिलता है ।

मेघनाद

यह दक्षिण की दिगम्बर परंपरा के आचार्य और वैद्यक के विद्वान् थे । इनके द्वारा विरचित 'बालवैद्य' (कौमारभृत्य=बालचिकित्सा) का उल्लेख उग्रादित्याचार्य ने कल्याणकारक (प. 20।85) में किया है—'मेघनादैः शिशूनां वैद्यं' । अतः इनका काल 8वीं शती से पूर्व का ज्ञाप्त होता है ।

सिंहनाद (सिंहसेन)

इनके नाम का पाठांतर 'सिंहसेन' मिलता है । इन्होंने 'वाजीकरण' और 'रसायन' पर चिकित्साग्रन्थ लिखा था ।

उग्रादित्याचार्य ने कल्याणकारक (प. 20।85) में इनका उल्लेख किया है—'वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः ।'

वृष्य=वाजीकरण । दिव्यामृत=दीर्घायु देने वाला शास्त्र—रसायनतंत्र ।

इनका काल 8वीं शती से पूर्व का प्रमाणित होता है ।

दशरथमुनि

यह दक्षिण के दिगम्बर मुनि थे । इन्होंने 'कायचिकित्सा' पर कोई ग्रन्थ लिखा था । यह अप्राप्त है ।

उग्रादित्याचार्य प्रणीत कल्याणकारक (प. 20।85) में इनका पूर्वाचार्य के रूप में उल्लेख हुआ है—'काये सा चिकित्सा दशरथगुरुभिः' ।

संभवतः ये उग्रादित्य के गुरु रहे हों । उनके अन्य गुरु, जिनका कल्याणकारक में दो तीन स्थानों पर उल्लेख है, का नाम श्रीनन्दि था । 'आदिपुराण' के कर्ता जिनसेन के दशरथगुरु सतीर्थ (सहपाठी, गुरुभाई) थे । इनके गुरु आचार्य वीरसेन (षट्खंडागमपर 'धवला' और कषायप्राभृत पर 'जयधवला' टीका के रचयिता) हुए । ये

---

[1] वीर शासन के प्रभावक आचार्य, पृ. 40

मूलसंघ के पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे। जिनसेन और दशरथगुरु के प्रसिद्ध शिष्य गुणभद्र हुए। उत्तरपुराण की प्रशस्ति (श्लोक सं. 11–13) में आचार्य गुणभद्र ने लिखा है—'जिस प्रकार चंद्रमा का सधर्मी सूर्य होता है, उसी प्रकार जिनसेन के सधर्मी या सतीर्थ दशरथ गुरु थे, जो कि संसार के पदार्थों का अवलोकन कराने के लिए अद्वितीय नेत्र थे। इनकी वाणी से जगत् का स्वरूप अवगत किया जाता था।'

गोम्मटदेव मुनि

यह दक्षिण भारत के दिगम्बर आचार्य थे। इनका 'मेरूतंत्र' या 'मेरूदण्डतंत्र' नामक वैद्यग्रन्थ प्राप्त है। इसके प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में पूज्यपाद का सम्मानपूर्वक नामोल्लेख हुआ है।[1]

अत: ये पूज्यपाद से परवर्ती हैं। जैनसिद्धान्तभवन आरा (बिहार) से प्रकाशित 'सारसंग्रह' में गोम्मटदेवकृत 'मेरुदण्डतंत्र' से नाड़ीपरीक्षा और ज्वरनिदान आदि को उद्धृत किया गया है।

कल्याणकारक और उसका कर्त्ता उग्रादित्याचार्य

दक्षिण के जैनाचार्यों द्वारा रचित 'आयुर्वेद' या 'प्राणावाय' के उपलब्ध ग्रंथों में 'उग्रादित्य' का 'कल्याणकारक' सबसे प्राचीन, मुख्य और महत्वपूर्ण है।[2] प्राणावाय की प्राचीन जैन–परम्परा का दिग्दर्शन हमें एकमात्र इसी ग्रन्थ से प्राप्त होता है। यही नहीं, इसका अन्य दृष्टि से भी बहुत महत्व है। ईसवी आठवीं शताब्दी में प्रचलित चिकित्सा प्रयोगों और रसौषधियों से भिन्न और सर्वथा नवीन प्रयोग हमें इस ग्रन्थ में देखने को मिलते हैं।

सबसे पहले 1922 में नरसिंहाचार्य ने अपनी पुरातत्व संबंधी रिपोर्ट में इस ग्रंथ के महत्व और विषयवस्तु के वैशिष्ट्य पर निम्नांकित पंक्तियों में प्रकाश डाला था, तब से अब तक इस पर पर्याप्त ऊहापोह किया गया है—

"Another manuscript of some interest is the medical work 'KALYANAKARAKA of Ugraditya, a Jaina author, who was a contemporary of the Rastrakuta King Amoghavarsha I and of the Eastern Chalu-

---

[1] कल्याणकारक, प्रस्तावना, पृ. 38

[2] 'कल्याणकारक' ग्रन्थ का प्रकाशन सोलापुर से सेठ गोविंदजी रावजी दोशी ने सन् 1940 में किया है। इसमें मूल संस्कृत पाठ के अतिरिक्त पं. वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया है। इसके संपादन में चार हस्तलिखित प्रतियों से सहायता ली गयी है।

kya King Kali Vishnuvardhan V. The work opens with the statement that the science of Medicine is divided into two parts, namely prevention and cure, and gives at the end a long discourse in Sanskrit prose on the uselessness of a flesh diet, said to have been delivered by the author at the court of Amoghvarsha, where many learned men and doctors had assembled"

(Mysore Archaeological Report, 1922, Page 23)

अर्थात् —"अन्य महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ उग्रादित्य का चिकित्साशास्त्र पर 'कल्याण-कारक' नामक रचना है। यह विद्वान् जैन लेखक और राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम तथा पूर्वी चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम का समकालीन था। ग्रंथ के प्रारंभ में कहा गया है कि चिकित्साविज्ञान दो भागों में बंटा हुआ है—जिनके नाम हैं—'प्रतिबंधक चिकित्सा' और 'प्रतिकारात्मक चिकित्सा'। तथा, इस ग्रन्थ के अन्त में संस्कृत गद्य में मांसाहार की निरर्थकता के संबंध में विस्तृत संभाषण दिया गया है, जो, बताया जाता है कि, अमोघवर्ष की राजसभा में लेखक ने प्रस्तुत किया था, जहां पर अनेक विद्वान् और चिकित्सक एकत्रित थे।"

ग्रन्थकार-परिचय—ग्रन्थ 'कल्याणकारक' में कर्ता का नाम उग्रादित्य दिया हुआ है। उनके माता-पिता और मूल निवास आदि का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। परिग्रह-त्याग करने वाले जैन साधु के लिए अपने वंश-परिचय को देने का विशेष आग्रह और आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। हां, गुरु का और अपने विद्यापीठ का परिचय विस्तार से उग्रादित्य ने लिखा है।

गुरु—उग्रादित्य ने अपने गुरु का नाम 'श्रीनन्दि' बताया है। वह संपूर्ण आयुर्वेदशास्त्र (प्राणावाय) के ज्ञाता थे। उनसे उग्रादित्य ने प्राणावाय में वर्णित दोषों, दोषज उग्ररोगों और उनकी चिकित्सा आदि का सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर इस ग्रंथ (कल्याणकारक) में प्रतिपादन किया है।[1]

इससे ज्ञात होता है, श्रीनन्दि उस काल में 'प्राणावाय' के महान् विद्वान् और प्रसिद्ध आचार्य थे।

---

[1] क. का. प. 20, श्लोक 84—

'श्रीनंद्याचार्यादशेषागमज्ञाद् ज्ञात्वा दोषात् दोषजानुग्ररोगान्।
तद्भैषज्यक्रमं चापि सर्वं प्राणावायादुधृत्य नीतम्॥

(आ) क. का., प. 21, श्लोक 3—

श्रीनंदिप्रभवोऽखिलागमविधिः शिक्षाप्रदः सर्वदा।
प्राणावायनिरूपितमर्थमखिलं सर्वज्ञसंभाषितं॥
सामग्रीगुणता हि सिद्धिमधुना शास्त्रं स्वयं नान्यथा।

श्रीनन्दि को 'विष्णुराज' नामक राजा द्वारा विशेषरूप से सम्मान प्राप्त था। कल्याणकारक में लिखा है[1]—"महाराजा विष्णुराज के मुकुट की माला से जिनके चरणयुगल शोभित हैं अर्थात् जिनके चरण कमल में विष्णुराज नमस्कार करता है, जो सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता हैं, प्रशंसनीय गुणों से युक्त हैं और उनसे ही मेरा उद्धार हुआ है।"

"उनकी आज्ञा से नाना प्रकार के औषध–दान की सिद्धि के लिए (अर्थात् चिकित्सा की सफलता के लिए) और सज्जन वैद्यों के वात्सल्य प्रदर्शनरूपी तप की पूर्ति के लिए, जिन–मत (जैनागम) से उद्धृत और लोक में 'कल्याणकारक' के नाम से प्रसिद्ध इस शास्त्र को मैंने बनाया।"

'विष्णुराज' के लिए यहां 'परमेश्वर' का विरुद लिखा गया है। यह परमश्रेष्ठ शासक का सूचक है। यह विष्णुराज ही, पूर्वी चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम था, जो उग्रादित्य का समकालीन था, ऐसा नरसिंहाचार्य का मत उनके उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है।[2] परन्तु पूर्वी चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम का शासनकाल ई. 847 से 848 तक ही रहा। एक वर्ष की अवधि में किसी राजा द्वारा महान् कार्य सम्पादन कर पाना प्रायः संभव ज्ञात नहीं होता।

श्री वर्धमान शास्त्री का अनुमान है—"यह विष्णुराज अमोघवर्ष के पिता गोविंदराज तृतीय का ही अपर नाम होना चाहिए। कारण महर्षि जिनसेन ने 'पार्श्वाभ्युदय' मे अमोघवर्ष का परमेश्वर की उपाधि से उल्लेख किया है। हो सकता है कि यह उपाधि राष्ट्रकूटों की परम्परागत हो"[3]

यह मत मान्य नहीं, केवल अनुमान पर आधारित है। क्योंकि पहले राष्ट्रकूटों का वेंगि पर अधिकार नहीं था। अमोघवर्ष प्रथम ने उस पर सबसे पहले अधिकार किया था।

यह विष्णुराज, जो वेंगि का शासक था, निश्चय ही कलि विष्णुवर्धन और अमोघवर्ष प्रथम से पूर्ववर्ती विष्णुवर्धन चतुर्थ नामक अत्यन्त प्रभावशाली और जैनमतानुयायी पूर्वी चालुक्य राजा था। इसका शासनकाल ई. 764 से 799 तक रहा।

---

[1] क. का., प. 25: श्लोक 51–52—

"श्रीविष्णुराजपरमेश्वरमौलिमाला संलालितांघ्रियुगलः सकलागमज्ञः।
आलापनीयगुणसोन्नत सन्मुनीन्द्रः श्रीनंदिनंदितगुरुर्गुरुर्जितोऽहम्॥
तस्याज्ञया विविधभेषजदानसिध्यै सद्वैद्यवत्सलतपः परिपूरणार्थम्।
शास्त्रं कृतं जिनमतोद्धृतमेतदुघेत् कल्याणकारकमिति प्रथितं धरायाम्॥

[2] Narasinghacharya—Mysore Archaeological Report, 1922, Page ?3

[3] वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, कल्याणकारक, उपोद्घात, पृ, 42

डा. ज्योतिप्रसाद जैन ने भी यही उल्लिखित किया है कि विष्णुवर्धन चतुर्थ चालुक्य राजा के काल में श्रीनन्दि सम्मानित हुए थे।[1]

निवासस्थान और काल—उग्रादित्य की निवास भूमि 'रामगिरि' थी, जहाँ उन्होंने श्रीनन्दि गुरु से विद्याध्ययन तथा 'कल्याणकारक' ग्रंथ की रचना की थी। कल्याणकारक में लिखा हैं—

"वेंगीशत्रिकलिंगदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः प्रोद्यद्वृक्षलतावितानिरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः।
सर्वे मंदिर कंदरोपमगुहाचैत्यालयालंकृते रम्ये रामगिरौ मया विरचितं शास्त्रं हितं प्रणिनाम्॥

(क. का. परि. 20, श्लोक 87)

'स्थानं रामगिरिर्गिरीन्द्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदं' (क. का., पृ. 21, श्लोक 3)

'रामगिरि' की स्थिति के विषय में विवाद है। श्री नाथूराम प्रेमी का मत है कि छत्तीसगढ़ महाकौशल) क्षेत्र के सरगुजा स्टेट का रामगढ़ ही यह रामगिरि होगा। यहां गुहा, मंदिर और चैत्यालय हैं तथा उग्रादित्य के समय यहां सिद्ध और विद्याधर विचरण करते रहे होंगे।[2]

उपर्युक्त पद्य में रामगिरि को त्रिकलिंग प्रदेश का प्रधानस्थान बताया गया है। गगा से कटक तक के प्रदेश को उत्कल या उत्तरकलिंग, कटक से महेन्द्रगिरि तक के पर्वतीय भाग को मध्यकलिंग और महेन्द्रगिरि से गोदावरी तक के स्थान को दक्षिण कलिंग कहते थे। इन तीनों की मिलित संज्ञा 'त्रिकलिंग' थी।

कालिदास द्वारा वर्णित रामगिरि भी यही स्थान होना चाहिए जो लक्ष्मणपुर से 12 मील दूर है। पद्मपुराण के अनुसार यहां रामचन्द्र ने मंदिर बनवाये थे। यहां पर्वत में कई गुफाएं और मंदिरों के भग्नावशेष हैं।[3]

वस्तुतः, यह रामगिरि, विजगापट्टम जिले में 'रामतीर्थ' नामक स्थान है। यहां पर 'दुर्गपंचगुफा' की भित्ति पर एक शिलालेख भी है। इसमें किसी एक पूर्वीय चालुक्य के संबंध में जानकारी दी हुई है। यह शिलालेख ई. 1011–12 का है। इससे यह प्रकट होता है कि रामतीर्थ जैनधर्म का एक पवित्र स्थान था यहां पर अनेक जैन अनुयायी रहते थे। उक्त शिलालेख में रामतीर्थ को रामकोंड भी लिखा है। प. कैलाशचन्द्र के अनुसार—"ईसवीसन् की प्रारंभिक शताब्दियों में रामतीर्थ में बौद्धधर्म के बहुत अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह उल्लेखनीय है कि बौद्धधर्म के पतनकाल में कैसे जैनों

---

[1] **डा. ज्योतिप्रसाद जैन; भारतीय इतिहास, एक दृष्टि; पृ.** 290

[2] **नाथूलाल प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ.** 212

[3] **वही पृ.** 2:2

ने इस स्थान पर कब्जा जमाया और उसे अपने धर्मस्थान के रूप में परिवर्तित कर दिया।[1]

डा. ज्योतिप्रसाद जैन ने रामतीर्थ की वैभवपूर्ण स्थिति को 11वीं शताब्दी के मध्य तक स्वीकार किया है—

"रामतीर्थ (रामगिरि) भी 11वीं शताब्दी के मध्य तक प्रसिद्ध एवं उन्नत जैन सांस्कृतिक केन्द्र बना रहा जैसा कि वहां के एक शिलालेख से प्रमाणित होता है। विमलादित्य (1022 ई.) के भी एक कन्नड़ी शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके गुरु त्रिकालयोगी शिदालदेव तथा विमलादित्य स्वयं राजा भी जैनतीर्थ के रूप में रामगिरि की वन्दना करने गये थे।"[2]

उग्रादित्य के काल में रामगिरि अपने पूर्ण वैभव पर था। उसका समकालीन शासक वेंगिका पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (764-799 ई.) था। "विष्णुवर्धन चतुर्थ जैनधर्म का बड़ा भक्त था। इस काल में विजयापट्टम (विशाखापत्तनम्) जिले की रामतीर्थ या रामकोंड़ नामक पहाड़ियों पर एक भारी जैन सांस्कृतिक केन्द्र विद्यमान था। त्रिकलिंग (आंध्र) देश के वेंगिप्रदेश की समतल भूमि में स्थित यह रामगिरि पर्वत अनेक जैनगुहामन्दिरों, जिनालयों एवं अन्य धार्मिक कृतियों से सुशोभित था। अनेक विद्वान् जैनमुनि वहां निवास करते थे। विविध विद्याओं एवं विषयों की उच्चशिक्षा के लिए यह संस्थान एक महान् विद्यापीठ था। वेंगि के चालुक्य नरेशों के संरक्षण में जैनाचार्य श्रीनन्दि इस विद्यापीठ के प्रधानाचार्य थे। वह आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों में निष्णात थे। स्वयं महाराज विष्णुवर्धन उनके चरणों की पूजा करते थे। इन आचार्य के प्रधान शिष्य उग्रादित्याचार्य थे, जो आयुर्वेद एवं चिकित्साशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। सन् 799 ई. के कुछ पूर्व ही उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ कल्याणकारक की रचना की थी। ग्रंथप्रशस्ति से स्पष्ट है कि मूलग्रंथ को उन्होंने नरेश विष्णुवर्धन के ही शासनकाल और प्रश्रय में रचा था।"[3]

'त्रिकलिंग' देश ही आजकल तैलंगाना या तिलंगाना कहलाता है, जो इस शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है। वेंगि राज्य इसी क्षेत्र के अन्तर्गत था।

"वेंगी राज्य की सीमा उत्तर में गोदावरी नदी दक्षिण में कृष्णा नदी पूर्व में समुद्र-तट और पश्चिम में पश्चिमीघाट थी। इसकी राजधानी वेंगी नगर थी, जो इस समय पेड्डवेंगी (गोदावरी जिला) नाम से प्रसिद्ध है।"[4]

---

[1] प. कैलाशचंद्र, दक्षिण में जैनधर्म पृ.70-71

[2] डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास: एक दृष्टि, पृ. 291

[3] डा. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृ. 289-90

[4] नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 86

अतः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उग्रादित्याचार्य मूलतः तैलंगाना (आंध्र-प्रदेश) के निवासी थे और उनकी निवास भूमि 'रामगिरि' (विशाखापट्टन जिले की रामतीर्थ या रामकोंड) नामक पहाड़ियां थी। यहीं पर जिनालय में बैठकर उन्होंने कल्याणकारक की रचना की थी। उनका काल 8वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध था।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भी प्रकट होता है कि उग्रादित्याचार्य को वास्तविक संरक्षण वेंगि के पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (764-799 ई.) से प्राप्त हुआ था।

615 ई. में चालुक्य सम्राट् पुलकेशी द्वितीय ने आंध्रप्रदेश पर अधिकार कर वहां अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को प्रान्तीय शासक नियुक्त किया था। इस देश की राजधानी 'वेंगी' थी। पुलकेशी के अंतिमकाल में वेंगी का शासक स्वतंत्र हो गया और उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजवंश की स्थापना की। इस राजवंश के नरेशों में जैनधर्म के प्रति बहुत आस्था थी। इसी वंश में पूर्वोक्त विष्णुवर्धन चतुर्थ (ई. 764–799) हुआ। राष्ट्रकूटों के साथ इसके अनेक युद्ध हुए थे। विष्णुवर्धन चतुर्थ जैन-धर्म का अनुयायी था। इसकी मृत्यु के बाद इस वंश में जो राजा हुए वे दुर्बल थे। राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्द तृतीय (793–81 ई.) और उसके पुत्र सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम (814–878 ई.) ने अनेक बार वेंगि पर आक्रमण कर पूर्वी चालुक्यों को पराजित किया। अतः यह संभावना उचित ही प्रतीत होती है कि चालुक्य सम्राट् विष्णुवर्धन चतुर्थ की मृत्यु के बाद जब पूर्वी चालुक्यों का वैभव समाप्त होने लगा और राष्ट्रकूट सम्राट अमोघवर्ष प्रथम की प्रसिद्धि और जैनधर्म के प्रति आस्था बढ़ने लगी तो उग्रा-दित्याचार्य ने अमोघवर्ष प्रथम की राजसभा में आश्रय प्राप्त किया हो। संभव है, अमोघवर्ष की मद्य–मांस प्रियता को दूर करने के लिए उन्हें उसकी राजसभा में उपस्थित होना पड़ा हो अथवा उन्हें सम्राट् ने आमंत्रित किया हो। अतः "कल्याणकारक" के अंत में नृपतुंग अमोघवर्ष का भी उल्लेख है।

ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि उग्रादित्याचार्य "कल्याणकारक" की रचना रामगिरि में ही 799 ई. तक कर चुके थे। परन्तु बाद में जब अमोघवर्ष प्रथम की राजसभा में आये तो उन्होंने मद्य-मांस-सेवन के निषेध की युक्तियुक्तता प्रतिपादित करते हुए उसके अंत में 'हिताहित' नामक एक नया अध्याय और जोड़ दिया।

डा. ज्योतिप्रसाद जैन का भी यही विचार है—

"आचार्य उग्रादित्य ने अपने कल्याणकारक नामक वैद्यकग्रंथ की रचना 800 ई. के पूर्व ही कर ली थी किंतु अमोघवर्ष के आग्रह पर उन्होंने उसकी राजसभा में आकर अनेक वैद्यों एव विद्वानों के समक्ष मद्य–मांस–निषेध का वैज्ञानिक विवेचन किया और इस ऐतिहासिक भाषण को 'हिताहित अध्याय' के नाम से परिशिष्ट रूप में अपने ग्रंथ में सम्मिलित किया।"[1]

---

[1] डा. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहासः एक दृष्टि, पृ. 302

इस प्रकार आचार्य उग्रादित्य का उत्तरकालीन जीवन दक्षिण के राष्ट्रकूटवंशीय सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम का समकालीन रहा। इस शासक का शासनकाल 814 से 878 ई. रहा था।

सम्राट अमोघवर्ष प्रथम को नृपतुंग, महाराजशर्व, महाराजशण्ड, वीरनारायण, अतिशयधवल, शर्वधर्म, वल्लभराय, श्रीपृथ्वीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ, महाराजाधिराज, भटार, परमभट्टारक आदि विरुद प्राप्त थे।[1] यह गोविन्द तृतीय का पुत्र था। जिस समय सिंहासन पर बैठा, उस समय उसकी आयु 9–10 वर्ष की थी, अतः गुर्जरदेश का शासक, जो उसके चाचा इन्द्र का पुत्र था, कर्कराज उसका अभिभावक और संरक्षक बना। 821ई.में अमोघवर्ष के वयस्क होने पर कर्कराज ने विधिवत् राज्याभिषेक किया।

अमोघवर्ष के पिता गोविन्द तृतीय ने एलोरा और मयूरखंडी से हटाकर राष्ट्रकूटों की नवीन राजधानी मान्यखेट नासिक के पास (मलखेड) में स्थापित की थी। परन्तु उसके काल में इसकी बाहरी प्राचीर मात्र निर्माण हो सकी। अमोघवर्ष ने अनेक सुन्दर व भव्य प्रासादों, सरोवरों और भवनों के निर्माण द्वारा उसका अलंकरण किया।

अमोघवर्ष एक शांतिप्रिय और धर्मात्मा शासक था। युद्धों का संचालन प्रायः उसके सेनापति और योद्धा ही करते रहे। अतः उसे वैभव, समृद्धि और शक्ति को बढ़ाने का खूब अवसर प्राप्त हुआ।

"851 ई. में अरब सौदागर सुलेमान भारत आया था। उसने 'दीर्घायु बलहरा' (वल्लभराय) नाम से अमोघ का वर्णन किया है और लिखा है कि उस समय संसार–भर में जो सर्वमहान् चार सम्राट थे, वे भारत का वल्लभराय (अमोघवर्ष), चीन का सम्राट, बगदाद का खलीफ़ा और रूम कुस्तुन्तुनिया) का सम्राट थे।"[2]

वह स्वयं वीर, गुणी और विद्वान् होने के साथ उसने अनेक विद्वानों, कवियों और गुणियों को अपनी राजसभा में आश्रय प्रदान किया। इसके काल में संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़ी और तमिल भाषाओं के विविध विषयों के साहित्य–सृजन में अपूर्व प्रोत्साहन मिला।

सम्राट अमोघवर्ष दिगम्बर जैन धर्म का अनुयायी और आदर्श जैन श्रावक था। वीरसेन स्वामी के शिष्य आचार्य जिनसेन स्वामी का वह शिष्य था। जिनसेन स्वामी उसके राजगुरु और धर्मगुरु थे।[3] जैसा कि गुणभद्राचार्यकृत 'उत्तरपुराण' (ई. 898) मे लिखा है—

---

[1] **प्रो. सालेतोर**. Mediaval Jainism, P. 38; **पं. कैलाशचन्द्र, दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृ** 90

[2] **भारत के प्राचीन राजवंश, भाग** 3, पृ. 38

[3] **डा. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि**, पृ. 301

[4] **प्रो. सालेतोर**, Mediaval Jainism, P. 38

"यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारांतराविर्भवत्पादाम्भोजरजः पिशंगमुकुट-
प्रत्यग्ररत्नद्युतिः ।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोहमद्येत्यलम् स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो
जगन्मंगलम् ।।"

आचार्य जिनसेन द्वारा रचित 'पार्श्वाभ्युदय' नामक महान् काव्य में सर्ग के अन्त में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है —

"इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनम् नाम चतुर्थः सर्गः इत्यादि ।"

अमोघवर्ष ने जैन विद्वानों को भी महान् संरक्षण प्रदान किया और अनेक जैन मुनियों को दान दिये। वह स्याद्वादविद्या का प्रेमी थी। उसके आश्रित प्रसिद्ध गणिताचार्य महावीराचार्य ने अपने जैन गणित ग्रंथ 'गणितसारसंग्रह' में अमोघवर्ष को स्याद्वादसिद्धांत का अनुकरण करने वाला कहा है।

इसके शासनकाल और आश्रय में 'राद्धांतग्रंथ' की 'जयधवला' नामक टीका (ई. 837) की पूर्ति जिनसेन स्वामी ने की। इस टीका का लेखन-प्रारम्भ उनके गुरु वीरसेन स्वामी ने किया था। इसके अतिरिक्त आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्ति ने 'शब्दानुशासन' व्याकरण और उसकी अमोघवृत्ति की रचना की। स्वयं सम्राट अमोघ-वर्ष ने संस्कृत में 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' नामक नीतिग्रन्थ और कन्नड़ी में 'कविराजमार्ग' नामक छंद अलंकार का शास्त्रग्रंथ रचा था।

'प्रश्नोत्तररत्नमाला' से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष ने अपने पिता के समान ही जीवन के अन्तिमकाल में राज्य त्याग दिया था।[1] 60 वर्ष राज्य करने के बाद 875–76 ई. के लगभग अपने ज्येष्ठ पुत्र कृष्ण द्वितीय को राज्य सौंप कर अमोघवर्ष श्रावक के रूप में जीवन-यापन करने लगे।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यही अमोघवर्ष प्रथम नृपतुंग वल्लभराय आचार्य उग्रादित्य का समकालीन शासक था। इसका प्रमाण हमें 'कल्याणकारक' की निम्न पंक्तियों में मिलता है।

"ख्यातः श्रीनृपतुंगवल्लभ-महाराजाधिराजस्थितः ।
प्रोद्यद्भूरिसभांतरे बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने ।।
मांसाशिप्रकरेन्द्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रतो ।
मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेन्द्रवैद्यस्थितम् ।।

इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशिवैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्यैर्नृपतुंग-वल्लभेंद्रसभायामुद्घोषितं प्रकरणम् ।" (कल्याणकारक, हिताहिताध्याय, समाप्तिसूचक अंश)।

---

[1] विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका ।
रचिताऽमोघवर्षेण सुधिया सदलंकृतिः ।। (प्र.र.मा.)

अर्थात्—'प्रसिद्ध नृपतुंग वल्लभ (राय) महाराजाधिराज की सभा में जहां अनेक प्रकार के प्रसिद्ध विद्वान् विद्यमान थे, मांस भक्षण की प्रधानता का पोषण करने वाले वैद्यक-विद्या के विद्वानों (वैद्यों) के सामने इस जैनेन्द्र (जैन मतानुयायी) वैद्य ने उपस्थित होकर मांस की निष्फलता (निरर्थकता) को पूर्णतया सिद्ध कर दिया। इस प्रकार, सभी विशिष्ट, दुष्ट मांस के भक्षण की पुष्टि करने वाले वैद्य-शास्त्रों में मास का निराकरण करने के लिए, उग्रादित्याचार्य ने इस प्रकरण को नृपतुंग वल्लभ राजा की सभा में उद्घोषित किया।'

इस वर्णन में जिस राजा के लिए उग्रादित्याचार्य ने 'नृपतुंग', 'वल्लभ', 'महाराजाधिराज', 'वल्लभेन्द्र' विरुदों का प्रयोग किया है, वह स्पष्टरूप से राष्ट्रकूटवंशीय प्रतापी सम्राट अमोघवर्ष प्रथम (814–877 ई) ही था। क्योंकि ये सभी विरुद उसके लिए ही प्रयुक्त हुए हैं, जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं। अतएव श्री नाथूराम प्रेमी का यह कथन उचित प्रतीत नहीं हाता—'उग्रादित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्ष के समय के बतलाये गये हैं, परन्तु इसमें संदेह है। उसकी प्रशस्ति की भी बहुत-सी बातें संदेहास्पद हैं।"[1]

कृति-परिचय—

उग्रादित्याचार्य की एक मात्र वैद्यककृति 'कल्याणकारक' मिलती है। इसमें कुल 25 'परिच्छेद' (अध्याय) हैं और उसके बाद परिशिष्ट के दो अध्याय हैं—1 रिष्टाध्याय और 2 हिताहिताध्याय। इन परिच्छेदों के नाम इस प्रकार हैं—

(अ) **स्वास्थ्यरक्षणाधिकार** के अन्तर्गत परिच्छेद—

1 शास्त्रावतार, 2 गर्भोत्पत्तिलक्षण, 3 सूत्रव्यावर्णनम् (शारीर का वर्णन), 4 धान्यादि-गुणागुण-विचार, 5 अन्नपानविधि, 6 रसायनविधि।

(आ) **चिकित्साधिकार** के अन्तर्गत परिच्छेद

7 व्याधिसमुद्देश 8 वातरोगचिकित्सित, 9 पित्तरोगचिकित्सित, 10 श्लेष्मव्याधि-चिकित्सित, 11 महामयचिकित्सित (प्रमेह, कुष्ठ, उदर), 12 महामयचिकित्सित (वातव्याधि, मूढगर्भ, अर्श), 13 महामयचिकित्सित (अश्मरी, भगंदर) तथा क्षुद्ररोग-चिकित्सित (वृद्धि), 14 क्षुद्ररोगचिकित्सित (उपदंश, शूकदोष, श्लीपद, अपची, गलगंड, नाडीव्रण, अर्बुद, ग्रंथि, विद्रधि, क्षुद्ररोग), 15 क्षुद्ररोगचिकित्सित (शिरोरोग, कर्णरोग, नासारोग, मुखरोग, नेत्ररोग), 16 क्षुद्ररोगचिकित्सित (श्वास, कास, विरस, तृष्णा, छर्दि, अरोचक, स्वरभेद, उदावर्त, हिक्का, प्रतिश्याय), 17 क्षुद्ररोगचिकित्सित (हृद्रोग, क्रिमिरोग, अजीर्णरोग, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, योनिरोग, गुल्म, पांडुरोग, कामला, मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार), 18 क्षुद्ररोगचिकित्सित (राजयक्ष्मा, मसूरिका, बालग्रह, भूततंत्र), 19 सर्वविषचिकित्सित, 20 शास्त्रसंग्रहतंत्रयुक्ति।

---

[1] श्री नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 87

(इ) इसके बाद **उत्तरतंत्र** प्रारंभ होता है । इसके अन्तर्गत परिच्छेद—
21 कर्मचिकित्साधिकार (चतुर्विधकर्म–चिकित्सा=क्षार, अग्नि, शस्त्र, औषध; जलौका, शिराव्यध), 22 भेषजकर्मोपद्रवचिकित्साधिकार (स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति–अनुवासन–निरूह के असम्यक् प्रयोग से होने वाली आपत्तियों के भेद व प्रतिकार), 23 सर्वौषधकर्मव्यापच्चिकित्साधिकार (उत्तरबस्ति, वीर्यरोग, शुद्धशुक्र, शुद्धार्तव, गर्भादानविधि, गर्भिणीचर्या, प्रसव, सूतिकोपचार, धूम, कवलगह, नस्यविधि व्रणशोथ–शोथ, पलितनाशकलेप, केशकृष्णीकरणयोग), 24 रसरसायनसिद्ध्यधिकार (रस, रससंस्कार, मूर्च्छन, मारण, बंधन, रसशाला, रसनिर्माण, रसप्रयोग), 25 कल्पाधिकार (हरीतकी, आमलक, त्रिफला, शिलाजतु, वाम्येषा ? कल्प, पाषाणभेदकल्प, भल्लात-पाषाणकल्प, खर्परीकल्प, वज्रकल्प, मृत्तिकाकल्प, गोशृंग्यादिकल्प, एरंडादिकल्प, नाग्यादिकल्प, क्षारकल्प, चित्रककल्प, त्रिफलादिकल्प)।

अंतिम दो परिशिष्टाध्यायों के प्रथम 'रिष्टाध्याय' में मरणसूचक लक्षणों व चिह्नों का निरूपण किया गया है । द्वितीय, 'हिताहिताध्याय' में मांसभक्षण–निषेध का युक्तियुक्त विवेचन है । इस अध्याय में स्वयं आचार्य उग्रादित्य की संस्कृत टीका भी उपलब्ध है ।

इस ग्रन्थ में 'वैद्य' के लिए कहा गया है कि वह बहुत अर्थों (विषयों) को जानने वाला होना चाहिए । विद्या के बल से चिकित्सा करने वाले को ही वैद्य कहते हैं—

'तस्माद्वैद्यमुदाहरामि नियतं बह्वर्थमर्थावहं ।
वैद्यं नाम चिकित्सितं न तु पुनः विद्योद्भवार्थान्तरम् ।।

चिकित्सा को ही वैद्य (वैद्यत्व या वैद्यकर्म) कहते हैं, केवल विद्या से जाने गये अन्य अर्थों को ही वैद्य नहीं कहा जा सकता ।

ग्रन्थ का उद्देश्य—

उग्रादित्याचार्य ने लिखा है —"स्वयं के यश के लिए या विनोद के लिए या कवित्व के गर्व के लिए या हमारे पर लोगों की अभिरुचि जागृत करने के लिए मैंने इस ग्रन्थ की रचना नहीं की है; अपितु यह समस्त कर्मों का नाश करने वाला जैन-सिद्धांत है ऐसा स्मरण करते हुए इसकी रचना की है ।"

"जो विद्वान् मुनि आरोग्यशास्त्र को भलीभांति जानकर उसके अनुसार आहार–विहार करते हुए स्वास्थ्य–रक्षा करते हैं, वह सिद्धसुख को प्राप्त करता है । इसके विपरीत जो आरोग्य की रक्षा न करते हुए अपने दोषों से उत्पन्न रोगों द्वारा शरीर को पीड़ा पहुंचाते हुए, अपने अनेक प्रकार के दुष्परिणामों के भेद से कर्म से बंध जाता है ।"

"बुद्धिमान् व्यक्ति दृढ़ मन वाला होने पर भी यदि रोगी हो वह न धर्म कर सकता है, न धन कमा सकता है और न मोक्षसाधन कर सकता है । इन पुरुषार्थों की प्राप्ति न होने से वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं रह जाता ।"

"इस प्रकार उग्रादित्याचार्य द्वारा प्रणीत यह शास्त्र कर्मों के मर्मभेदन करने के

लिए शस्त्र के समान है। सब कामों में निपुण लोग इसे जानकर (अर्थात् इस शास्त्र में प्रवीण होकर और इसके अनुसार आचरण–आरोग्यसम्पादन कर) धर्म–अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करते हैं।[1]" ग्रंथारम्भ में उग्रादित्य ने लिखा है—

"महर्षि लोग स्वाध्याय को ही तपस्या का मूल मानते हैं। अत: वैद्यों के प्रति वात्सल्यभाव से ग्रंथ रचना करने को मैं प्रधान तपश्चरण मानता हूं। अत: मैंने स्व–पर–कल्याणकारी तपश्चरण ही यत्नपूर्वक प्रारंभ किया है।"[2]

ग्रंथ का प्रतिपाद्यविषय—

जैन तीर्थंकरों की वाणी को विषयानुसार बाँटकर उनके बारह विभाग किये गये हैं। इन्हें आगम के द्वादश अंग कहते हैं। इनमें बारहवां 'दृष्टिवाद' नामक अंग है, उसके 5 भेदों में एक भेद 'पूर्व' या 'पूर्वगत' कहलाता है। पूर्व के भी 14 भेद हैं। इनमें 'प्राणावाय' नामक एक भेद है। इसमें विस्तारपूर्वक अष्टांग आयुर्वेद अर्थात् चिकित्सा और शारीरशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है। यही इस ग्रंथ का मूल या प्रतिपाद्य विषय है।

रामगिरि में श्रीनंदि से 'प्राणावाय' का अध्ययनकर उग्रादित्य ने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

प्राणावाय का संपूर्ण मूल प्राचीनतम साहित्य अर्धमागधी भाषा में निर्मित हुआ था। ध्यान रहे कि जैन परम्परा का समग्र आगम-साहित्य महावीर की मूल-भाषा अर्धमागधी में ही रचा गया था। हर प्रकार से सुखकर इस शास्त्र प्राणावाय के उस विस्तृत विवेचन को यथावत् संक्षेप रूप में संस्कृत भाषा में उग्रादित्य ने इस ग्रन्थ में

---

[1] (अ) क. का, प. 20, श्लोक 88-91

न चात्मयशसे विनोदननिमित्ततो वापि सत्कवित्वनिजगर्वतो न च जनानुरागाशया–
त्कृतं प्रथितशास्त्रमेतदुरुजैनसिद्धान्तमित्यहर्निशमनुसराम्यखिलकर्मनिर्मूलनम् ।।88।।
आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित् स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम् ।
अन्यस्स्वदोषकृतरोगनिपीडितांगो बध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात् ।।89।।
न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्ता न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता ।
नरो बुद्धिमान् धीरसत्त्वोऽपि रोगी यतस्तद्विनाशाद्भवेन्नैव मर्त्यः ।।90।।
इत्युग्रादित्याचार्यवर्यप्रणीतं शास्त्रं शस्त्रं कर्मणां मर्मभेदी ।
ज्ञात्वा मर्त्यैस्सर्वकर्मप्रवीणैः लभ्यंतेके धर्मकामार्थमोक्षाः ।।91।।

(आ) क. का. 1/11-12

[2] क. का. 1/13

स्वाध्यायमाहुरपरे तपसां हि मूलं मन्ये च वैद्यवरवत्सलताप्रधानम् ।
तस्मात्तपश्चरणमेव मया प्रयत्नादारभ्यते स्वपरसौख्यविधायि सम्यक् ।।

वर्णित किया है। अर्धमागधी भाषा उनके समय तक संभवतः कुछ अप्रचलित हो चुकी थी। देशभर में सर्वत्र संस्कृत की मान्यता और प्रचलन था । अतः उग्रादित्य द्वारा अपने ग्रन्थ को सर्वलोक भोग्य और सम्मान्य बनने हेतु इसकी संस्कृत में रचना करनी पड़ी ।[1]

स्वयं ग्रन्थकार की प्रशस्ति के आधार पर—"यह कल्याणकारक नामक ग्रंथ अनेक अलंकारों से युक्त है, सुन्दर शब्दों से ग्रथित है, सुनने में सुखकर है, अपने हित की कामना करने वालों की प्रार्थना पर निर्मित है, प्राणियों के प्राण, आयु, सत्त्व, वीर्य, बल को उत्पन्न करने वाला और स्वास्थ्य का कारणभूत है । "पूर्व के गणधरादि द्वारा प्रतिपादित 'प्राणावाय' के महान् शास्त्र रूपी निधि से उद्भूत है ।" अच्छी युक्तियों या विचारों से युक्त है । जिनेन्द्र भगवान् तिर्थंकर) द्वारा प्रतिपादित है । ऐसे शास्त्र को प्राप्त कर मनुष्य सुख प्राप्त करता है ।"

"जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यह शास्त्र विभिन्न छंदों (वृत्तों) में रचित प्रमाण, नय और निक्षेपों का विचार कर सार्थक रूप से "दो हजार पांचसौ तेरासी छंदों" में रचा गया है और जब तक सूर्य, चंद्र और तारे मौजूद हैं तब तक प्राणियों के लिए सुखसाधक बना रहेगा ।"[2]

'प्राणावाय' का प्रतिपादक होने का प्रमाण देते हुए उग्रादित्य ने कल्याणकारक में प्रत्येक परिच्छेद के अंत में लिखा है—

"जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, जिसके इहलोक–परलोक के लिए प्रयोजन-भूत अर्थात् साधनरूपी दो सुन्दर तट हैं, ऐसे जिनेन्द्र के मुख से बाहर निकले हुए शास्त्ररूपी सागर की एक बूंद के समान यह शास्त्र (ग्रंथ) है । यह जगत्

---

[1] क. का. प. 25।54

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषाविशेषोज्ज्वलात् ।
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः ।।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पदं ।
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः ।।

[2] क. का. 25।55-56

सालंकारं सुशब्दं श्रवणसुखमथ प्रार्थितं स्वार्थविद्भिः ।
प्राणायुस्सत्त्ववीर्यप्रकटबलकर प्राणिनां स्वस्थहेतुम् ।।
निध्युद्भूतं विचारक्षममिति कुशलाः शास्त्रमेतद्यथावत् ।
कल्याणाख्यं जिनेंद्रैर्विरचितमधिगम्याशु सौख्यं लभंते ।।54।।

अप्यर्धद्विसहस्रकैरपि तथाशीतित्रयैरसौत्तरैर्वृत्तैरसंवारितैरिहाधिकमहावृत्तैर्जिनेंद्रोदितैः।
प्रोक्तं शास्त्रमिदं प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार्यार्थवज्जीयाच्चचंद्रविचद्रतारकमलं सौख्यास्पदं
प्राणिनाम् ।।56।।

का एक मात्र हितसाधक है (अतः इसका नाम 'कल्याणकारक' है)।"[1]

शास्त्र की परम्परा —

'कल्याणकारक' के प्रारंभिक भाग (प्रथम परिच्छेद के आरंभ के दस पद्यों में) आचार्य उग्रादित्य ने मर्त्यलोक के लिए जिनेन्द्र के मुख से आयुर्वेद (प्राणावाय) के प्रकटित होने का कथानक इस प्रकार दिया है —

भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। उनके समवसरण में भरत चक्रवर्ती आदि ने पहुंच कर लोगों के रोगों को दूर करने और स्वास्थ्यरक्षण का उपाय पूछा। तब प्रमुख गणधरों को उपदेश देते हुए भगवान् ऋषभदेव के मुख से सरस शारदादेवी बाहर प्रकटित हुई। उनकी वाणी में पहले पुरुष, रोग, औषध और काल—इस प्रकार संपूर्ण आयुर्वेद शास्त्र के चार भेद बताते हुए इन वस्तुचतुष्टयों के लक्षण, भेद, प्रभेद आदि सब बातों को बताया गया। इन सब तत्त्वों को साक्षात् रूप से 'गणधर' ने समझा। गणधरों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र को निर्मल, मति, श्रुति, अवधि व मनःपर्यय ज्ञान को धारण करने वाले योगियों ने जाना।

इस प्रकार यह संपूर्ण आयुर्वेदशास्त्र ऋषभनाथ तीर्थंकर के बाद महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों तक चला आया। यह अत्यन्त विस्तृत है, दोषरहित है, गंभीर वस्तुविवेचन से युक्त है। तीर्थंकरों के मुख से निकला हुआ यह ज्ञान 'स्वयंभू' है और अनादिकाल से चला आने के कारण 'सनातन' है। गोवर्धन भद्रबाहु आदि श्रुतकेवलियों के मुख से अल्पांग ज्ञानी या अंगांगज्ञानीचार मुनियों द्वारा साक्षात् सुना हुआ है। अर्थात् श्रुतकेवलियों ने अन्य मुनियों को इस ज्ञान को दिया था।[2]

---

[1] क. का. प्रत्येक परिच्छेद के अंत में—

"इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥"

(आ) "अभाषितं जिनवरैरधुना मुनीन्द्रोग्रादित्यपण्डितमहागुरुभिः प्रणीतम्॥

(क. का. 25/53)

[2] क. का. प. 1/1–10

शास्त्रपरम्परागमनक्रम —

दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चात् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपंचमष्टार्धनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः॥9॥
एवं जिनांतरनिबंधनसिद्धमार्गादायातमायातमनाकुलमर्थगाढम्।
स्वायंभुवं सकलमेव सनातनं तत् साक्षाच्छ्रुतं श्रुतबलैः श्रुतकेवलिभ्यः॥10॥

इस प्रकार प्राणावाय (आयुर्वेद) संबंधी ज्ञान मूलतः तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित है, अतः यह 'आगम' है। उनसे इसे गणधर, प्रतिगणधरों ने; उनसे श्रुतकेवली; और उनसे बाद में होने वाले अन्य मुनियों ने क्रमशः प्राप्त किया।

इस तरह परंपरा से चले आ रहे इस शास्त्र की सामग्री को गुरु श्रीनंदि से सीखकर उग्रादित्य ने 'कल्याणकारक' ग्रन्थ की रचना की। अतः कल्याणकारक परम्परागत ज्ञान के आधार रचित शास्त्र है।[1]

कल्याणकारक के आधारभूत जैन–आयुर्वेद ग्रंथ —

'कल्याणकारक' की रचना से पूर्व जिन जैन आयुर्वेदज्ञों ने ग्रन्थों का प्रणयन किया था, उनका उल्लेख उग्रादित्य ने निम्न पंक्तियों में किया है—

"शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्रस्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।

कायें या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः॥

(क. का. 20।85)

आयुर्वेद के आठ अंग हैं। आठ अंगों पर पृथक्-पृथक् जैन आयुर्वेद ग्रंथ रचे गये थे। इन ग्रन्थों के नाम व उनके प्रणेता के नाम निम्नानुसार हैं—

(1)	शालाक्यतंत्र	पूज्यपाद
(2)	शल्यतंत्र	पात्रस्वामि
(3)	विष और उग्रग्रहशमनविधि (अगदतंत्र और भूतविद्या पर)	सिद्धसेन
(4)	कायचिकित्सा	दशरथगुरु
(5)	शिशुचिकित्सा (कौमारभृत्य)	मेघनाद
(6)	दिव्यामृत (रसायन) और वृष्य (वाजीकरण)	सिंहनाद (पाठांतर–सिंहसेन)

इनके अतिरिक्त समंतभद्राचार्य ने इन आठों अंगों का एक साथ पूर्णरूप से विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करने वाले वैद्यकग्रंथ की रचना की थी। उसी के आधार पर उग्रादित्य ने संक्षेप में वर्णन करते हुए 'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी—

---

[1] क. का., 21/3

स्थानं रामगिरिर्गिरीन्द्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदः
श्रीनंदिप्रभवोऽखिलागमविधिः शिक्षाप्रदः सर्वदा॥
प्राणावायनिरूपितार्थमखिलं सर्वज्ञसंभाषितं।
सामग्रीगुणता हि सिद्धिमधुना शास्त्रं स्वयं नान्यथा॥

"अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात् ।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ॥

(क. का., प. 10/86)

इस शास्त्र (प्राणावाय) का अध्ययन उग्रादित्य ने श्रीनंदि से किया था। वे उस काल के प्राणावाय के महान् आचार्य थे।

ग्रन्थगत विशेषताएं —

प्राणावाय–परम्परा का उल्लेख करने वाला यह एक मात्र ग्रन्थ उपलब्ध है। संभवत: इसके पूर्व और पश्चात् का एतद्विषयक साहित्य कालकवलित हो चुका है। इसमें 'प्राणावाय' की दिगम्बर–सम्मत परम्परा दी गई है। अपने पूर्वाचार्यों के रूप में तथा जिन ग्रन्थों को आधार–भूत स्वीकार किया गया है उनके प्रणेताओं के रूप में उग्रादित्य ने जिन मुनियों और आचार्यों का उल्लेख किया है, वे सभी दिगम्बर–परंपरा के हैं। अत: यह निश्चित रूप से कह सकना संभव नहीं कि इस संबंध में श्वेतांबर–परम्परा और उसके आचार्य कौन थे। फिर भी ग्रंथ की प्राचीनता (8वीं शती में निर्माण होना) और रचनाशैली व विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए कल्याणकारक का महत्व बहुत बढ़ जाता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से जो विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं, वे निम्न हैं—

1. ग्रंथ के उपक्रम भाग में आयुर्वेद के अवतरण—मर्त्यलोक की परम्परा का जो निरूपण किया गया है, वह सर्वथा नवीन है। इस प्रकार के अवतरण संबंधी कथानक आयुर्वेद के अन्य प्रचलित एवं आर्ष शास्त्रग्रंथों- जैसे चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, काश्यपसंहिता, अष्टांगसंग्रह आदि में प्राप्त नहीं होते। कल्याणकारक का वर्णन 'प्राणावाय' परम्परा का सूचक है। अर्थात् 'प्राणावाय' संज्ञक–आगम का अवतरण तीर्थंकरों की वाणी में होकर जन–सामान्य तक पहुंचा—इस ऐतिहासिक परम्परा का इसमें वर्णन है।

चरक आदि ग्रंथों में आयुर्वेद के अवतरण का जो निरूपण है, उसका क्रम इस प्रकार है—

ब्रह्मा
|
दक्षप्रजापति
|
अश्विनीकुमार–द्वय
|
इन्द्र
|
ऋषि–मुनि–गण

आयुर्वेद इन ग्रंथों में आयुर्वेद को वैदिक आस्तिक शास्त्र माना गया है। अत: इसका उद्भव अन्य वैदिक आस्तिक शास्त्रों (कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि) की भांति ब्रह्मा से स्वीकार किया गया है। वस्तुतः ब्रह्मा वैदिकज्ञान का सूचक प्रतीक है।

'प्राणावाय' परम्परा में ज्ञान का मूल तीर्थंकरों की वाणी को माना गया है। यह परम्परा इस प्रकार चलती है—

तीर्थंकरों की वाणी (आगम)
|
गणधर और प्रतिगणधर

श्रुतकेवली
|
बाद में ऋषि–मुनि

इस प्रकार आयुर्वेद की मान्य परम्परा और प्राणावाय–परम्परा में यह अंतर है।

(2) कल्याणकारक में कहीं पर भी चिकित्सा में मद्य, मांस और मधु का प्रयोग नहीं बताया गया है। जैन–मतानुसार ये तीनों वस्तुएं असेव्य हैं। मांस और मधु के प्रयोग में जीव–हिंसा का विचार भी किया जाता है। मद्य जीवन के लिए अशुचिकर, मादक और अशोभनीय माना जाता है। आसव-अरिष्ट का प्रयोग तो कल्याणकारक में आता है, जैसे—प्रमेहरोगाधिकार में आमलकारिष्ट आदि।

आयुर्वेद के प्राचीन संहिताग्रन्थों में मद्य, मांस और मधु का भरपूर व्यवहार किया गया है। चरक आदि में मांस और मांसरस से संबंधित अनेक चिकित्साप्रयोग दिये गये हैं। मद्य को अग्निदीप्तिकर और आशुप्रभावशाली मानते हुए अनेक रोगों में इसका विधान किया गया है। राजयक्ष्मा जैसे रोगों में तो मांस और मद्य की विपुल–गुणकारिता स्वीकार की गई है। मधु अनुपान और सहपान के रूप में अनेक औषधियों के साथ प्रयुक्त होता है तथा मधूदक, मध्वासव आदि का पानार्थ व्यवहार वर्णित है।

(3) चिकित्सा में वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों के प्रयोग वर्णित हैं। वानस्पतिक द्रव्यों से निर्मित स्वरस, क्वाथ, कल्क, चूर्ण, वटी, आसव–अरिष्ट, घृत और तैल की कल्पनाएं दी गई हैं। क्षार निर्माण और क्षार का स्थानीय और आभ्यंतर प्रयोग भी बताया गया है। अग्निकर्म, सिरावेध और जलौकावचारण का विधान भी दिया गया है।

अनेक प्रकार के खनिज द्रव्यों का औषधीयप्रयोग कल्याणकारक में मिलता है।

(4) यदि इस ग्रन्थ का रचनाकाल 8वीं शती सही है, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रस (पारद) और रसकर्म (पारद का मूर्च्छन, मारण और बंध, इस प्रकार त्रिविधकर्म, रससंस्कार, रस–प्रयोग) का प्राचीनतम प्रामाणिक उल्लेख हमें इस ग्रंथ में प्राप्त होता है। इस पर एक स्वतंत्र अध्याय ग्रन्थ के 'उत्तरतंत्र' में 24वां परिच्छेद 'रसरसायनविध्यधिकार' के नाम से दिया गया है। कुल 56 पद्यों में पारद संबंधी 'रसशास्त्रीय' सब विधान वर्णित हैं।

(5) जैन सिद्धांत का अनुसरण करते हुए कल्याणकारक में सब रोगों का कारण पूर्वकृत 'कर्म' माना गया है।

सहेतुकास्सर्वविकारजातास्तेषां विवेको गुणमुख्यभेदात् ।
हेतुः पुनः पूर्वकृतं स्वकर्म ततः परे तस्य विशेषणानि ॥11॥

स्वभावकालग्रहकर्मदैवविधातृपुण्येश्वरभाग्यपापम् ।
विधिः कृतांतो नियतिर्यमश्च पुराकृतस्यैव विशेषसंज्ञा ॥12॥

न भूतकोपान्न च दोषकोपान्न चैव सांवत्सरिकोपरिष्टात् ।
ग्रहप्रकोपात्प्रभवंति रोगाः कर्मोदयोदीरणभावतस्ते ॥13॥

(क. का., प. 7/11–13)

अर्थात् 'शरीर में सब रोग हेतु के बिना नहीं होते । उन हेतुओं में गौण और मुख्य भेद से जानने की आवश्यकता होती है । रोगों का मुख्य हेतु पूर्वकृत कर्म है । शेष सब उनके विशेषण अर्थात् निमित्त कारण हैं या गौण हैं ।'

'स्वभाव, काल, ग्रह, कर्म, दैव, विधाता, पुण्य, ईश्वर, भाग्य, पाप, विधि, कृतांत, नियति, यम—ये सब पूर्वकृत कर्म के ही विशेष नाम हैं ।'

'न पृथ्वी आदि महाभूतों के कोप से, न दोषों के कोप से, न वर्षफल के खराब होने से और न ग्रहों (शनि, राहु आदि) के कोप से—रोग उत्पन्न होते हैं । अपितु, कर्म के उदय और उदीरण से ही रोग उत्पन्न होते हैं ।'

फिर 'चिकित्सा' क्या है ? और उसका प्रयोजन क्या है ? इन प्रश्नों का भी आचार्य उग्रादित्य ने रोगनिदानानुरूप ही उत्तर प्रस्तुत किया है । 'कर्म की उपशमन क्रिया को चिकित्सा या रोगशांति कहते हैं ।'

'तस्मात्स्वकर्मोपशमक्रियाया
व्याधिप्रशांति प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥' (क. का., 7/14)

अपने कर्म का पाक दो प्रकार से होता है – 1 समय पर स्वयं पकना, 2. उपाय द्वारा पकना । इनकी सुन्दर विवेचना आचार्य ने की है—

स्वकर्मपाको द्विविधो यथावदुपायकालक्रमभेदभिन्नः ॥14॥
उपायपाको वरघोरवीरतपःप्रकारैस्सुविशुद्धमार्गैः ।
सद्यः फलं यच्छति कालपाकः कालांतराद्यः स्वयमेव दद्यात् ॥15॥

यथा तरूणां फलपाकयोगो मतिप्रगल्भैः पुरुषैर्विधेयः ।
तथा चिकित्सा प्रविभागकाले दोषप्रकोपो द्विविधः प्रसिद्धः ॥16॥

आमघ्नसद्भेषजसंप्रयोगादुपायपाकं प्रवदंति तज्ज्ञाः ।
कालांतरात्कालविपाकमाहुर्मृगद्विजानाथजनेषु दृष्टम् ॥17॥

(1) **उपायपाक** –श्रेष्ठ, घोर, वीर तपस्यादि विशुद्ध उपायों से कर्म का जबरन उदय कराना (उदयकाल न होने पर भी) जिससे वह तत्काल फल देता है । इसे 'उदयपाक' कहते हैं ।

(2) कालपाक—कालांतर में यथासमय जो पककर स्वयं उदय में आकर फल देता है, वह 'कालपाक' है।

जिस प्रकार वृक्ष के फल स्वयं पकते हैं और बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा पकाये भी जाते हैं। उसी प्रकार दोषों का पाक भी 'उपाय (चिकित्सा)' और 'कालक्रम' से—दो प्रकार से पक्व होता है। दोष या रोग के आमत्व को औषधियों द्वारा पकाना 'उपाय-पाक' कहलाता है और कालांतर में (अपने पाककाल में) स्वयं ही (बिना किसी औषध के) पकना 'कालपाक' कहलाता है। इसलिए लिखा है—'जीव (आत्मा) अपने कर्म से प्राप्त होने वाले पापपुण्य रूपी फल को बिना प्रयत्न के अवश्य ही प्राप्त करता है। पाप और पुण्य के कारण ही दोषों का प्रकोप और उपशम होता है। क्योंकि ये दोनों ही मुख्य कर्म हैं। अर्थात् रोग के प्रति दोषप्रकोप व दोषशमन गौण (निमित्त) कारण हैं।

जीवस्स्वकर्मार्जितपुण्यपापफलं प्रयत्नेन विनापि मुंक्ते।
दोषप्रकोपोपशमौ च ताभ्यामुदाहृतौ हेतुनिबंधनौ तौ ॥ (क. का., 7/10)

(6) कल्याणकारक में शारीरविषयक वर्णन विस्तार से नहीं मिलता, किन्तु 20वें परिच्छेद में भोजन के बारह भेद, दश औषधकाल, स्नेहपाक आदि, रिष्टों का वर्णन करने के साथ शरीर के मर्मों का वर्णन किया गया है।

(7) इस शास्त्र (प्राणावाय या आयुर्वेद) के दो प्रयोजन बताये गए है—स्वस्थ का स्वास्थ्यरक्षण और रोगी का रोगमोक्षण। इन सबको संक्षेप से इस ग्रंथ में कहा गया है—

'लोकोपकारकरणार्थमिदं हि शास्त्रं शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्।
स्वास्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च संक्षेपतः सकलमेवनिरुप्यतेऽत्र ॥
(क. का., 1/24)

चिकित्सा के आधार जीव हैं। इनमें भी मनुष्य सर्वश्रेष्ठ जीव हैं।

'सिद्धांततः प्रथितजीवसमासभेदे पर्याप्तसंज्ञिवरपंचविधेन्द्रियेषु।
तत्रापि धर्मनिरता मनुजा प्रधानाः क्षेत्रे च धर्मबहुले परमार्थजाताः ॥
(क. का., 1/26)

जैनसिद्धांतानुसार जीव के 14 भेद हैं 1 एकेंद्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, 2 एकेंद्रिय-सूक्ष्म अपर्याप्त, 3 एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त, 4 एकेंद्रिय बादर अपर्याप्त, 5 द्वीन्द्रिय पर्याप्त, 6 द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, 7 त्रीन्द्रियपर्याप्त, 8 त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, 9 चतु-रीन्द्रिय पर्याप्त, 10 चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, 11 पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्त, 12 पंचे-न्द्रिय असंज्ञी अपर्याप्त, 13 पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त, 14 पंचेन्द्रिय संज्ञी अपर्याप्त।
(1) जिसको आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा व मन–इन 6 पर्याप्तियों में यथासंभव पूर्ण प्राप्त हुए हों उन्हें 'पर्याप्तजीव' कहते हैं। जिन्हें वे पूर्ण प्राप्त न हुए

हों उन्हें 'अपर्याप्त जीव' कहते हैं। अपर्याप्तजीवों की अपेक्षा पर्याप्तजीव श्रेष्ठ हैं।

(2) जिनको हित-अहित, योग्य-अयोग्य, गुण-दोष आदि का ज्ञान होता है, उन्हें 'सज्ञी' कहते हैं, इसके विपरीत 'असंज्ञी' हैं। असंज्ञियों से संज्ञी श्रेष्ठ हैं।

पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों में मनुष्य श्रेष्ठ है। उनमें भी धर्माचरण करने वाले मनुष्य प्रधान हैं, क्योंकि उन्होंने धर्ममय क्षेत्र (शरीर) में जन्म लिया है।

(3) ग्रंथ-योजना भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। संपूर्ण ग्रन्थ के मुख्य दो भाग मूलग्रन्थ (1 से 20 परिच्छेद) और उत्तरतंत्र (21 से 25 परिच्छेद)। 'प्राणावाय' (आयुर्वेद) संबंधी सारा विषय मूलग्रंथ में प्रतिपादित किया गया है। मूलग्रन्थ भी स्पष्टतया दो भागों में बंटा हुआ है—स्वास्थ्यपरक, रोगचिकित्सापरक।

प्रथम परिच्छेद में आयुर्वेद (प्राणावाय) के अवतरण की ऐतिहासिक परम्परा बतायी गयी है और ग्रन्थ के प्रयोजन को लिखा गया है।

द्वितीय परिच्छेद से छठे परिच्छेद तक स्वास्थ्यरक्षणोपाय वर्णित हैं। स्वास्थ्य दो प्रकार का बताया गया है—1 पारमार्थिक स्वास्थ्य (आत्मा के संपूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न आत्यंतिक-नित्य अतीन्द्रिय मोक्षरूपी सुख), 2 व्यवहार स्वास्थ्य (अग्नि व धातु की समता, दोषविभ्रम न होना, मलमूत्र का ठीक से विसर्जन, आत्मा-मन-इन्द्रियों की प्रसन्नता)।[1] छठे परिच्छेद में दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, वाजीकरण और रसायन विषयों का वर्णन है, क्योंकि ये सभी स्वास्थ्यरक्षण के आधार हैं।

सातवें परिच्छेद में रोग और चिकित्सा की सामान्य बातें, निदान पद्धति का वर्णन है।

आठवें से अठारहवें तक विभिन्न रोगों के निदान-चिकित्सा का वर्णन है। रोगों के मोटे तौर पर दो वर्ग किए गए हैं—1 महामय. 2 क्षुद्रामय। महामय आठ प्रकार के हैं—प्रमेह, कुष्ठ, उदररोग, वातव्याधि, मूढगर्भ, अश्मरी और भगंदर। शेष सब रोग क्षुद्ररोगों की श्रेणि में आते हैं। क्षुद्ररोग के अन्तर्गत ही भूतविद्या संबंधी विषय—बालग्रह और भूतों का वर्णन है। उन्नीसवें परिच्छेद में विषरोग—अगदतंत्र संबंधी विषय दिये गए हैं। मद्य को विष वर्ग में ही माना गया है। अन्तिम बीसवें परिच्छेद में सप्तधातूत्पत्ति, रोगकारण और अधिष्ठान, साठ प्रकार के उपक्रम व चतुर्विधकर्म, भोजन के बारह भेद, दश औषधकाल, स्नेहपाकादि की विधि, रिष्ट-वर्णन, मर्मवर्णन है।

उत्तरतंत्र में क्षारकर्म, अग्निकर्म, जलौकावचारण, शस्त्रकर्म, शिराव्यध, स्नेहनादि कर्मों के यथावत् न करने से उत्पन्न आपत्तियों की चिकित्सा, उत्तरबस्ति, गर्भादान, प्रसव, सूतिकोपचार, धूम्रपान, कवल गंडूष. नस्य, शोथ-वर्णन, पलितनाशन, केशकृष्णीकरण उपाय, रसविधि, विविध कल्पप्रयोग हैं। अंत में दो परिशिष्टाध्याय हैं।

---

[1] क. का. 2/3-4

अध्याय–4

जैन आयुर्वेद के विद्वान्, ग्रंथकार और उनके ग्रंथ

पादलिप्तसूरि (प्रथम-द्वितीय शती)

कहा जाता है कि इनके जन्म का नाम नगेन्द्र, पिता का नाम फुल्ल और माता का नाम प्रतिमा था। साधु बनने पर ये पादलिप्त कहलाये। 'प्रभावकचरित' के अनुसार इनका जन्म अयोध्या के विजयब्रह्म राजा के काल में एक श्रेष्ठिकुल में हुआ था। आठ वर्ष की आयु में विद्याधरगच्छ के आचार्य आर्य नागहस्ती से इन्होंने दीक्षा ली और दसवें वर्ष में पट्ट पर बैठे। ये मथुरा में रहते थे। इनका काल वि. सं. 151-219 (94–162 ई.) माना जाता है। 'विशेषावश्यक भाष्य' और 'निशीथचूर्णी' में भी इनका उल्लेख मिलने से इनका काल पर्याप्त प्राचीन ज्ञात होता है।[1]

इनका जीवनवृत्त, प्रभावकचरित्र, प्रबंधकोष और प्रबंधचितामणि में विस्तार से मिलता है।

उद्योतनकृत 'कुवलयमाला' में लिखा है कि प्रतिष्ठान (पैठण) के सातवाहन राजा हाल की सभा में पादलिप्त रत्नहार के समान सुशोभित हुए थे -

'णिम्मलमणेण गुणगरुयएणं परमत्थरयणसारेण।
पालित्तएण हालो हारेण च सहइ गोट्ठीसु ।। (कुवलयमाला–प्रारंभ)

'हाल' द्वारा संकलित 'गाथासप्तशती' (गाहासत्तसई) में कुछ गाथाएं पादलिप्त (प्राकृत में 'पालित्त') द्वारा रचित मानी गयी हैं। 'बृहत्कथा' का प्रयोग कवि 'गुणाढ्य' भी इनका समकालीन था।

तरंगवती, ज्योतिषकरंडक प्रकीर्णक, निर्वाणकालिका और प्रश्नप्रकाश—पादलिप्त के ग्रन्थ हैं।

आगमों की चूर्णियों से इनके 'कालज्ञान' नामक ग्रन्थ की रचना का पता चलता है। पादलिप्तसूरि 'सिद्धविद्या' और रसायन-कर्म में निपुण थे। प्रसिद्ध है कि पादलिप्त को गुरु से एक ऐसे लेप का ज्ञान मिला था जिसे पैरों पर लगाने से आकाश में गमन करने की अद्‌भुत शक्ति प्राप्त होती थी। इसी कारण इनका नाम 'पादलिप्त' पड़ा।

"आचार्य पादलिप्तसूरि ने 'गाहाजुअलेण' से शुरू होने वाले 'वीरथम' की रचना की है और उसमें सुवर्णसिद्धि तथा 'व्योमसिद्धि' (आकाशगामिनीविद्या) का विवरण गुप्त रीति से दिया है। यह स्तव प्रकाशित है।"[2]

---

[1] डा. नेमिचंद्र शास्त्री, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 451

[2] जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 206

जैन-परम्परा में सिद्ध-विद्या, योग और रसायनविद्या अत्यंत प्राचीनकाल से प्रचलित रही है।

'सिद्धपाहुड' (सिद्धप्राभृत) नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ में अंजन, पादलेप, गुटिका आदि का वर्णन था। यह ग्रन्थ अब नहीं मिलता। 'कंकालयरसाध्याय' में भी रसकर्म, गुटिका और अंजन के 252 प्रकार माने गये हैं। इनसे सिद्धियां (सफलताएं) और चमत्कारों की शक्ति प्राप्त होती थी। इन सिद्धियों के बारे में अनेक उदाहरण मिलते हैं। पादलिप्तसूरि और उनके शिष्य नागार्जुन पादलेप करके आकाशगमन करते थे। आर्य सुस्थितसूरि के दो क्षुल्लक शिष्य नेत्रों में अंजन लगाकर अदृश्य होकर दुर्भिक्ष के समय चंद्रगुप्त मौर्य राजा के साथ बैठकर भोजन करते थे। आर्य समितसूरि ने योगचूर्ण से नदी के प्रवाह को रोककर ब्रह्मद्वीप के पांच सौ तापसों को प्रतिबोध दिया था। 'समराइच्चकहा' (भय 6) में कथानक आता है कि चंडरुद्र 'परदिट्ठिमोहिणी' नामक चोरगुटिका को पानी में घिस कर आंखों में अंजन लगाता था, जिससे लक्ष्मी अदृश्य हो जाती थी।

संभव है पादलिप्तसूरि को ऐसा ही पादलेप का कोई सिद्ध योग प्राप्त हो, जिससे वह आकाश में विचर सकते थे।

पादलिप्त ने पाटलिपुत्र के राजा मुरुण्ड की दीर्घकालीन शिरोवेदना को घुटनों पर अंगुली घुमाकर शांत कर दी थी। इस प्रसंग की गाथा 'वेदनाशामक मंत्र' के रूप में प्रसिद्ध हो गयी। इस राजा की सभा में पादलिप्तसूरि के बुद्धिचातुर्य के अनेक प्रसंग मिलते हैं।[1] राजा मुरुण्ड कनिष्क का सूबेदार था।

पादलिप्त के एक शिष्य आचार्य स्कन्दिल थे।[2] प्रसिद्ध रसायनज्ञ नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। पादलिप्त की सेवा करके उन्होंने सिद्ध-विद्या एवं रसायन में निपुणता प्राप्त की थी। वे भी पादलिप्त के समान पादलेप द्वारा आकाश-विचरण करते थे। उन्होंने गुरु के सम्मान में शत्रुंजय पर्वत की तलहटी में 'पादलिप्तनगर'—पालित्रायण (वर्तमान पालीताणा) नगर बसाया था।

पादलिप्त द्वारा विरचित किसी वैद्यक या रसायन के ग्रन्थ का पता नहीं चलता है।

रसायन-सिद्धि से पादलिप्त ने दीर्घ आयु प्राप्त की थी।

नागार्जुन (जैन सिद्ध नागार्जुन, दूसरी एवं तीसरी शती)

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन (प्रथम शती ई.) एवं सिद्ध नागार्जुन (सातवीं शती) के अतिरिक्त जैन परम्परा में भी नागार्जुन हुए हैं। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन अश्वघोष और कुषाण-सम्राट कनिष्क के समकालीन थे और इन्होंने कश्मीर के कुंडलवन

---

[1] वीरशासन के प्रभावक आचार्य, पृ. 22-23

[2] जै. सा. बृ., इति., भाग 5, पृ. 206

में हुई चतुर्थ बौद्ध संगीति का नेतृत्व किया था। इनके समय में महायान-मत प्रतिष्ठित हुआ। सिद्ध नागार्जुन नालंदा से संबंधित थे, और इनको सरहपा का शिष्य बताया जाता है। इनका उल्लेख चौरासी सिद्धों में मिलता है। ये मूलत: दक्षिण (श्रीशैल) या बराड़ के निवासी थे।

जैन परम्परा में जिस नागार्जुन का वर्णन प्राप्त होता है वह पादलिप्तसूरि के शिष्य थे। इसको भी 'सिद्धनागार्जुन' के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इन्होंने तंत्र-मंत्र और रसविद्या में सिद्धियां प्राप्त की थीं। इनके जीवनवृत्त पर इन जैन-ग्रंथों में विवरण प्राप्त होता है—'प्रभावकचरित्र, विविधतीर्थकल्प, प्रबन्धकोष, प्रबन्धचिंतामणि, 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' और पिण्डविशुद्धि की टीकाएं।

इन ग्रन्थों के विवरणों से ज्ञात होता है कि नागार्जुन 'सौराष्ट्र' प्रांत के अन्तर्गत 'ढंकगिरि' के निवासी और आचार्य 'पादलिप्तसूरि' के शिष्य थे। पादलिप्तसूरि का काल यद्यपि ईसवीय पहली शती है, तथापि उन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की थी—ऐसा उल्लेख मिलता है। अत: दूसरी और तीसरी शती में उनके शिष्य नागार्जुन हुए—ऐसा मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। अस्तु,नागार्जुन पादलिप्तसूरि के शिष्य होने की बात अत्यन्त प्रसिद्ध है,इसे दृष्टि-तिरोहित नहीं किया जा सकता। पादलिप्तसूरि रसायन, मंत्र-तंत्र और वानस्पतिक ज्ञान में निपुण थे। वे पादलेप करके आकाशगमन करते थे। यह सिद्धि नागार्जुन ने भी उनसे प्राप्त की थी। पादलिप्तसूरि को 'प्रतिष्ठानपुर' (वर्तमान औरंगाबाद जिले में पैठन, महाराष्ट्र) के सातवाहन राजा हाल की सभा में सम्मान प्राप्त हुआ था। नागार्जुन का भी किसी 'सातवाहन राजा' से संबंध और उस पर विशिष्ट प्रभाव सूचित होता है। पादलिप्त ने पाटलिपुत्र के मुरुण्ड राजा की मस्तकपीड़ा को मंत्र-शक्ति से ठीक किया और वह प्रतिष्ठानपुर (पैठन) में आकर रहने लगा।

जैन साहित्य में ऐतिहासिक ग्रंथों के रूप में—मेरुतुंग प्रणीत 'प्रबंधचिंतामणि' (1306 ई.) और उसके अनुकरण पर लिखे राजशेखरकृत 'प्रबंधकोश' (1349 ई.) का स्थान महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थों में जैन आचार्यों, संतों और महापुरुषों के जीवनवृत्त और उनसे संबंधित आख्यान संकलित हैं।

'प्रबंधचिंतामणि' के 'नागार्जुनोत्पत्ति-स्तम्भनकतीर्थावतार प्रबंध' में नागार्जुन के संबंध में बताया गया है—'ढंक' के राजा 'रणसिंह' की 'भूपाल' नामक पुत्री थी। वह रूपवान् नागबाला थी। उस पर 'वासुकि' मोहित हो गया। तब उनसे 'नागार्जुन' नामक पुत्र का जन्म हुआ। अनेक प्रकार की औषधियों के प्रभाव से वह सिद्धपुरुष बन गया। शातवाहन (या शालिवाहन) राजा के 'कलागुरु' के पद पर आसीन होकर उसने उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त की। पादलिप्तपुर में गगनगामिनी विद्या के जानकार पादलिप्त आचार्य रहते थे। वह उनका शिष्य बन गया। उनसे उसने पादलेप करके आकाश में घूमने की विद्या प्राप्त की। इसके बाद सिद्धि प्राप्त कर नागार्जुन को पार्श्वनाथ के समक्ष कोटिवेधी रसके निर्माण की विधि बतायी। उसने कितिपुर से रत्नमय पार्श्वनाथ की मूर्ति

लाकर 'द्वारवती' (द्वारका) के प्रासाद मंदिर) में स्थापित की। वह नगरी जल कर जल प्लावित हो जाने पर भी वह बिम्ब (प्रतिमा) वैसा ही रहा। नागार्जुन ने अपने रस की सिद्धि के लिए'सेडी नदी'के तटपर उसे स्थापित किया। वहां सातवाहन राजा की चंद्रलेखा नामक पत्नी द्वारा प्रतिदिन रसमर्दन करवाया गया। उसने इस कर्म की शिक्षा हेतु अपने दोनों पुत्रों को नागार्जुन के पास नियुक्त किया। रसके निर्माण की विधि को पूर्ण रूप से जान लेने के बाद उन दोनों ने सिद्धरस को स्वयं ही प्राप्त करने की इच्छा से शस्त्र द्वारा नागार्जुन की हत्या कर दी। परन्तु वह रस 'संप्रतिष्ठित' और 'अधिष्ठानित' हो जाने से तिरोहित (गायब) हो गया। जहां वह रस स्तंभित हुआ था, वहां स्तम्भनक (आधुनिक खंभात, गुजरात) पार्श्वनाथतीर्थ प्रसिद्ध हुआ।[1]

'प्रबंधचिंतामणि' के प्रथमसर्ग में 'शालिवाहन प्रबंध' में भी नागार्जुन का उल्लेख मिलता है।

स्पष्ट हैकि नागार्जुन ढंकगिरि के निवासी होते हुए भी प्रतिष्ठानपुर के सातवाहन राजा के सम्पर्क में आये थे। यहां सातवाहन राजा का नाम नहीं मिलता। अनुश्रुति है कि नागार्जुन ने रसवेध से सातवाहन राजा को भी दीर्घ आयु प्राप्त करायी थी। अतः उसने दीर्घकाल तक शासन किया होगा। सातवाहन वंशीय राजाओं को 'आंध्र' भी कहा जाता है, क्योंकि संभवतः ये मूलतः आंध्रप्रदेश के निवासी थे। ये नरेश ब्राह्मण थे। सातवाहन आंध्र जाति के राजाओं का वंश या कुलनाम था।[2] उन्हीं का एक उपनाम सातकर्णि था, जो बाद में कुलनाम हो गया। पुराणों (विशेषकर 'मत्स्य' और 'वायु' पुराण) में इनके वंश का विस्तार से वर्णन है। सातवाहन राजाओं की वंशावलियों में बहुत मतभेद है। मत्स्यपुराण की सूची में 30 राजाओं के नाम हैं, यही सूची सबसे बड़ी है। पादलिप्तसूरिका समकालीन राजा हाल हुआ। उसके बाद सातवाहन राजाओं में दीर्घायुप्राप्त करने वाला राजा यज्ञश्री शातकर्णि हुआ,उसने 28वर्ष राज्य किया (मत्स्य व वायुपुराण के अनुसार)। उसका काल 128-157 ई. माना जाता है।[3] नागार्जुन और सातवाहन राजा (यज्ञश्री शातकर्णि) के सम्बन्धों के विषय में विशिष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह निश्चित है कि सातवाहनों का राज्य गुजरात और सौराष्ट्र तक फैला हुआ था। गौतमीपुत्र सातकर्णि (65-86ई.) और उसके पुत्र पुलुमावि (वशिष्ठीपुत्र पुलुमावि) (86-114 ई.) के राज्यकाल भी दीर्घ रहे, क्रमशः 21 एवं 28 वर्ष। आंध्रों के शासन की दो राजधानियां रहीं, पूर्व में धानकटक, जिसे धरणिकोट भी कहते हैं और दूसरी पश्चिम में गोदावरी तट पर प्रतिष्ठानपुर या पैठन। कभी-कभी पिता-पुत्रों ने एक ही काल में दोनों राजधानियों में शासन किये हैं। ऐसा रा. गो.

---

[1] मेरुतुंगाचार्य, प्रबंधचिंतामणि, सर्ग 5, प्रकीर्ण प्रबंध, पृ. 308-12

[2] जी. याजदानी, दकन का प्राचीन इतिहास, पृ. 71

[3] वही, पृ. 96

भांडारकर का अभिमत है। नासिक के अभिलेख सं.2 में गोतमी बलश्री को महाराजा की माता और महाराज की दादी कहा गया है। इन महाराजाओं की पहचान क्रमश: गौतमीपुत्र सातकर्णि और वशिष्ठीपुत्र पुलुमावि से की गई है। नासिक के अभिलेख सं. 3 में गौतमीपुत्र सातकर्णि को 'धानकटकमसि' कहा गया है। अत: अनुमान होता है कि दोनों पिता-पुत्र एक ही साथ राज्य कर रहे थे। पिता की राजधानी धानकटक (या धरणिकोट) थी और पुत्र की राजधानी पैठन थी। यदि दोनों समकालीन शासक नहीं होते तो गोतमी बलश्री 'शासकवंश के एक की रानी, किसी राजा की माता और किसी राजा की दादी' के रूप में स्वयं का उल्लेख नहीं करती।[1]

पुलुमावि के 19वें वर्ष के बलश्री के नासिक के अभिलेख के अनुसार गौतमीपुत्र का राज्यविस्तार आसिक, असक, मूलक, सुरठ, कुकुर, अपरांत, अनूप, विदर्भ, आकर और अवंति, पर्वत विभ्र, चवट, परियात, सह्य, कण्हगिरि, मच, सिरितन, मलय, महिद, सेतगिरि और चकोर पर्यन्त था। धान्यकटक अब 'धञ्ञकड क्षेत्र' नाम से जाना जाता है। 4थी शती के मयिदवोलु अभिलेख में आंध्रों (सातवाहनों) का मूल देश 'अंध्रापथ' नाम से कहा गया है, जो कृष्णा की निचली घाटी में धञ्ञकड या अमरावती के आसपास माना गया है। निश्चित ही यह श्रीशैलम् (कुर्नूल) के पास है।

निश्चितरूप से कहीं नहा जा सकता कि नागार्जुन ने किस सातवाहन नरेश का आश्रय प्राप्त किया था। परंतु यह निश्चित है कि अपने दीर्घकालीन जीवन में नागार्जुन ने अनेक प्रकार की सिद्धियां और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। इससे वे सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये थे।

'प्रबन्धकोश' में दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर के सातवाहन राजा का उल्लेख है। वह जैनाचार्य पादलिप्तक का समकालीन और मित्र था। उसके समय में पाटलिपुत्र का राजा मुरुंड था। सम्भव है उसका नाम दाहड हो (प्रभावकचरित, 5/184)।

यह सातवाहन अवन्तिका के विक्रमादित्य का पूर्ववर्ती था। विक्रमादित्य के समकालिक आचार्य स्कन्दिल और सिद्धसेन दिवाकर थे। स्कंदिल पादलिप्त के शिष्य थे। (प्रबंधकोश, पृ. 11-16)। इसी सातवाहन का समकालिक सम्राट द्विज शूद्रक था (विविधतीर्थकल्प, पृ. 61)।

पादलिप्तसूरि कालकाचार्य की शिष्य-परम्परा में हुए आर्य नागहस्ति के शिष्य थे। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए नागार्जुन की आचार्य परम्परा और उनके सम-कालीन प्रसिद्ध व्यक्तियों की श्रृंखला इसप्रकार निश्चित होती है।

---

[1] वही, पृ. 88-89; रा. गो. भांडारकर, अर्लि हिस्ट्री ऑफ डेक्कन, पृ. 32-33, एवं टि. 17

कालकाचार्य
|
आर्यनागहस्ति
|
प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजा (हाल), पादलिप्तसूरि, पाटलिपुत्र में राजा मुरुण्ड
|
प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन नागार्जुन और स्कन्दिलाचार्य, शूद्रक

नागार्जुन की इस गुरु-शिष्य परम्परा के निश्चित हो जाने पर उनके काल के संबंध में पुरातात्विक खोजों का प्रमाण भी प्रस्तुत करेंगे।

'प्रबंधचितामणि' में नागार्जुन को ढंकगिरि का निवासी कहा गया है। 'विविध-तीर्थकल्प' (पृ. 104) में भी इसका उल्लेख है—

'ढंकपव्वए रायसीहरायउत्तस्स भोपालनामिश्रं धूश्रं रूलावण्णासम्पन्नं दठ्ठूणं जायाणुरायस्स तं सेवमानस्य वासुगिणो पूत्तो नागाज्जुणो नाम जाओ।'

'प्रबंधकोश' और 'पिंडविशुद्धि' की टीकाओं में भी यही बात कही गयी है।

'ढंकगिरि' का जैन साहित्य में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। यह प्रसिद्ध 'शत्रुंजयपर्वत' का एक भाग माना जाता है। यह सौराष्ट्र में वल्लभीपुर के निकट है। 'सातवाहन' के गुरु (कलागुरु) और आचार्य 'पादलिप्तसूरि' के शिष्य 'सिद्धनागार्जुन' यहीं पर्वत की गुफा में रहते थे। उन्होंने रससिद्धि और स्वर्णसिद्धि के लिए महान् यत्न किया था। नागार्जुन ने 'ढंकपर्वत' की गुफा में 'रसकूपिका' स्थापित की थी। 'पुरातनप्रबंधसंग्रह' (पृ. 92) में लिखा है –

'नागार्जुनेन द्वौ कुपितौ भृतौ ढंकपर्वतस्य गुहायां क्षिप्तौ।'

ढंकगिरि की इस गुफा की खोज डा. बर्जेज[1] ने की थी। डा. हंसमुखलाल धीरजलाल सांकालिया[2] ने इसमें पार्श्वनाथ की खड़ी जिन-प्रतिभा को देखा था, उसके साथ अंबिका की मूर्ति भी थी। यहां अन्य गुफाओं में वृषभ, महावीर आदि तीर्थंकरों की मूर्तियां भी थी। डा. सांकालिया ने प्रतिमाओंका काल ईसवी की तीसरी शती प्रमाणित किया है (जैन सत्य प्रकाश, वर्ष 4, अंक 1-2)। कुछ विद्वान इन गुफाओं को क्षत्रपकाल (चष्टन, रुद्रदामन, जयदामन् आदि के काल) अर्थात् प्रथम-द्वितीय शती की मेनते हैं। (डा. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 310) इसी काल के कुछ पुरातात्विक अवशेष और कृतियां साराभाई नवाब ने सौराष्ट्र में खोज निकाले थे। (भारतीय विद्या, भाग 1, अंक 2)।

इसी रससिद्धि ने अंत में नागार्जुन के प्राण हर लिये थे।

---

[1] **बर्जेस, एंटीक्विटीज ऑफ कच्छ एण्ड काठियावाड**, 1874-75, पृ. 139 **एवं आगे।**

[2] **सांकालिया, आर्किओलौजी ऑफ गुजरात**, 1941

आगमसाहित्य का संस्करण—

नागार्जुन ने जैन आगमों के श्रुतपाठों को एकत्रित करने और उनका परिष्कार करने के लिए वल्लभी में एक सम्मेलन आयोजित किया। इसमें सुदूरप्रांतों से अनेक जैन यति-मुनि सम्मिलित हुए थे। यह सम्मेलन 300 ई. के लगभग हुआ था। इस सम्मेलन द्वारा आगमों के जो पाठ संस्करण प्रस्तुत हुए उन्हें 'नागार्जुनी वाचना' या 'वल्लभी वाचना' कहते हैं। लगभग इसी समय में मथुरा में आचार्य स्कंदिल ने एक जैन सम्मेलन बुलाया था। इसमें भी आगमों का पाठ-निर्धारण किया गया। इसे 'माथुरी वाचना' कहते हैं। दुर्भाग्य से अब जैन आगमों के 'वल्लभी' और 'माथुरी' वाचनाओं वाले पाठ अनुपलब्ध हैं। यत्र तत्र उनके उल्लेख मिलते हैं।

रससिद्धि—

'अलबेरुनी' (11वींशती) ने अपने 'भारत वर्णन' में नागार्जुन के सम्बन्ध में लिखा है–'रसविद्या के नागार्जुन नामक प्रसिद्ध आचार्य हुए जो सौराष्ट्र में सोमनाथ पास के निकट दैहक में रहते थे। वे रसविद्या में बहुत निपुण थे। उन्होंने इस विषय पर एक ग्रंथ लिखा था, जो अब दुर्लभ है। वे हमसे सौ साल पहले हो गये हैं।'

अलबेरुनी के विवरण से नागार्जुन के विषय में निम्नतथ्य उभरकर सामने आते हैं—1. वह रसविद्या में निपुण था 2. उसका निवास स्थान सौराष्ट्र में सोमनाथ के दैहक नामक स्थान था, 3. रसविद्या पर उसने कोई ग्रंथ लिखा था और, 4. अलबेरुनी से वह 100 वर्ष पहले हुआ था। स्थान, काल और कृतित्व के संबन्ध उसका यह वर्णन अत्यंत महत्वपूर्ण है।

जैन परम्परा में भी नागार्जुन को रस-सिद्ध माना गया है। उसका निवास स्थान सौराष्ट्र में ढंकगिरि में बताया गया है, परन्तु अलबेरूनी सोमनाथ के निकट मानता है। उसके काल में सोमनाथ की ख्याति बहुत फैल चुकी थी। उसकी धन सम्पदा और ख्याति से आकृष्ट होकर ही अलबेरूनी के समकालीन और आश्रयदाता गजनी के मुसलमान शासक महमूद ने सोमनाथ पर आक्रमण कर लूटमार की थी। सोमनाथ नाम से प्राय: सारे सौराष्ट्र की सूचना मिलती है। अत: अलबेरूनी द्वारा प्रसिद्ध स्थान सोमनाथ के निकट दैहक को बताया गया है। 'दैहक' और 'ढंक' शब्दों में काफी साम्य है। भारतीय शब्दों के अरबी या फारसी रूप बहुत बदले हुए मिलते हैं। यह बात सूचना देने, व्यक्ति के उच्चारण की स्थिति एवं सुनकर लिखने वाले लेखक के ग्रहण के आधार पर निर्धारित होती थी। अत: परिवर्तन संभव ही था। यह आज भी होता है। जैसे रसविद्या-निपुण नागार्जुन का अलबेरूनी ने उल्लेख किया है, वह जैन रससिद्ध नागार्जुन ही होना प्रमाणित होता है। अड़चन केवल काल संबंधी सूचना की है। अलबेरूनी ने नागार्जुन को अपने से सौ वर्ष पूर्व होना बताया है। यह भ्रांतिमूलक है। उस समय, भारतीय समाज में, विशेषकर सुदूर, पंजाब एवं पश्चिमोत्तर भारतीय प्रांतों में जहां अलबेरूनी ने यात्रा की थी, नागार्जुन संबंधी एक मिलाजुला ऐतिहासिक

रूप प्रकट हुआ होगा। नाम साम्य मात्र के कारण तत्कालीन जनसमाज में जैन रससिद्ध नागार्जुन और चौरासी सिद्धों में प्रसिद्ध सिद्ध नागार्जुन को एक ही माना जाने लग गया हो। चौरासी सिद्धों वाला नागार्जुन भी रसविद्या में निपुण था परन्तु वह नालन्दा विश्वविद्यालय से आजीवन संबद्ध रहा। उसका काल 7वीं शती है। जबकि जैन सिद्ध नागार्जुन दूसरी–तीसरी शती में हो चुका था। फिर भी, अलबेरूनी ने जिस नागार्जुन का उल्लेख किया है, उसका पृथक्करण सौराष्ट्र क्षेत्र का निवासी बताने से स्वतः हो जाता है।

अलबेरूनी के काल में ही नागार्जुनकृत रसविद्या विषयक ग्रन्थ दुर्लभ हो चुका था। वह किस नाम वाला ग्रंथ था? यह बताना बहुत मुश्किल है।

ग्रन्थ—मुनि कान्तिसागर ने लिखा है –"मेरे ज्येष्ठ गुरु–बन्धु मुनि श्री मंगलसागरजी महाराज साहब के ग्रन्थ–संग्रह में 'नागार्जुनकल्प' नामक एक हस्तलिखित प्रति है, उसमें भारतीय रस–चिकित्सा एवं अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण व आश्चर्यजगक रासायनिक प्रयोगों का संकलन है। इसकी भाषा प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। यह कृति सिद्धनागार्जुन (जैन) की होनी चाहिए, क्योंकि प्राकृत भाषा में होने से ही, मैं इसे उनकी रचना नहीं मानता, पर कल्प में कई स्थानों पर 'पादलिप्तसूरि' का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया गया है, जो इनके सब प्रकार से गुरु थे। प्रश्न रहा अपभ्रंश प्रतिलिपि का, इसका उत्तर भी बहुत सरल है। अत्यंत लोकप्रिय कृतियों में भाषा–विषयक परिवर्तन होना स्वाभाविक बात है।" ('खण्डहरों का वैभव', पृ. 300–301)

उनका मत है कि –'जिस ग्रन्थ की चर्चा उसने (अलबेरूनी ने) की है, मेरी राय में वह 'नागार्जुनकल्प' ही होना चाहिए।' (वही, पृ. 303)

मुझे राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर में 'नागार्जुनकल्प' की जो प्रति देखने को मिली वह यद्यपि प्राकृत–अपभ्रंश भाषा में लिखी हुई है, किन्तु (1) न तो वह बहुत बड़ी रचना है, न इसमें रसचिकित्सा का और न आश्चर्यजनक रस या औषध योगों का विशेष वर्णन है, (2) न इसमें कहीं पर भी पादलिप्तसूरि का नामोल्लेख है। यद्यपि मेरे द्वारा देखी गई यह प्रति कुछ अंशों में त्रुटित है (इसमें दो पत्र अप्राप्य हैं), तथापि आदि–अंत में तथा उपलब्ध अंश में पादलिप्त का उल्लेख नहीं मिलता। मुनिजी द्वारा उल्लिखित प्रति मैंने नहीं देखी। संभवतः ये दोनों ग्रन्थ भिन्न हों।

'योगरत्नमाला' (आश्चर्ययोगरत्नमाला) भी जैन सिद्ध नागार्जुन की बतायी जाती है। इस पर सं. 1296 (1239 ई.) में श्वेतांबर सिद्धघटीय भिक्षु गुणाकर ने 'विवृति' लिखी है। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने लिखा है—'It is also not improbable that some other Nagarjuna may be a tantrika under the Jain–Sect whom Gunakara a Jain Monk, has followed.' (योगरत्नमाला, Introduction, P.11)। तांत्रिक विधियों पर सूत्र रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में नागार्जुन ने अपने गुरु को ही स्मरण किया है और उनको भास्कर के तुल्य जगत् में देदीप्यमान माना है।

'विमलमतिकिरणनिकरप्रभिन्नसच्छिष्यकमलसंघाता: ।
सकलजगदेकदीपा जयन्ति गुरूभास्करा: भुवने ।।1।।'

गुणाकर ने टीका में स्पष्ट किया है—'सकललोकस्य ज्ञानावबोधाय दीपा दीपप्राया: स्वगुरवो भास्करा सूर्य्यतुल्या: भुवने लोके जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्त इत्यर्थ:' ।

गुरु के मत या सिद्धांत रूपी समुद्र से कुछ योगरूपी रत्नों को निकाल कर यह 'रत्नमाला' गूंथी गई है—

'स्पष्टाक्षरपदसूत्रैर्गु रुमतरत्नाकरात्समुद्धृत्य ।
ग्रथिता परिस्फुरन्तो निगद्यते योगरत्नमालेयम् ।।2।।

इसमें सब अनुभूत योग ही संग्रहित किये गये है । गुणाकार का तो विश्वास है कि इनके संबंध में आशका नहीं करनी चाहिए—

'अत्र (अस्मिन्) शास्त्रे श्रीनागार्ज्जुनाचार्य्येण सर्वेऽप्यनुभूता एवयोगा उक्ता: । अतो नाप्रामाण्यशंका कार्य्येति ।' (श्लोक 3 पर विवृति में) । स्वयं नागार्जुन ने 'योगरत्नमाला' के उपसंहार-पद्य में लिखा है—

'गुरुमुखतोऽधिगतं यच्छास्त्रान्तरतश्च तन्मया ज्ञातम् ।
अनुभवमार्गे नीत्वा तन्मध्यात्किंचिदिह दृष्टम् ।।139।।

'आश्चर्यरत्नमाला नागार्जुनविरचिताऽनुभवसिद्धा ।
सकलजनहृदयदयिता समर्थिता सूत्रतो जयति ।।140।।'

संदेह होता है कि यह रचना सिद्धनागार्जुन और जैनसिद्ध नागार्जुन में से किस के द्वारा प्रणीत होनी चाहिए ? सिद्धनागार्जुन कृत 'कक्षपुटम्' नामक अन्य तांत्रिक ग्रन्थ मिलता है । उसमें भी 'योगरत्नमाला' की भांति मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन अग्निस्तंभ, जलस्तंभ आदि के तांत्रिक प्रयोग दिये गये हैं । कक्षपुट के अंत में ग्रन्थकार ने अपने को 'सिद्धनागार्जुन' लिखा है—

'इति श्रीसिद्धनागार्जुनविरचिते कक्षपुटे विंशतितम: पटल: ।।1800।। समाप्त ।।'

'विवरणम्'— श्रीसिद्धनागार्जुनविरचितसिद्धचामुण्डापरपर्य्याय: कक्षपुटाभिधो मन्त्रसाधनवशीकरणादिविषयकस्तान्त्रिकनिबन्धविशेष: ।' (Dr. R.L. Mitra, Notices No. 256) ।

'योगरत्नमाला में कहीं भी नागार्जुन ने अपने को 'सिद्ध' नहीं कहा है । टीकाकार गुणाकरने भी सर्वत्र नागार्जुन को आचार्य नागार्जुन या नागार्जुनाचार्य नाम से लिखा है—

'इह शास्त्रारम्भे आचार्य्यनागार्जुनपादा: शिष्टसमयपरिपालनार्थं
शास्त्रस्योपादेयतां च दर्शयितुं गुरुपादभक्तिं कुर्वन्त: प्रथमामार्यामाहु: ।
(ग्रन्थारम्भ में)

अत्राऽस्मिन् शास्त्रे श्रीनागार्जुनाचार्य्येण सर्वेऽप्यनुभूता एव योगा उक्ताः ।

(श्लोक 3 की टीका)

'श्री नागार्जुनाचार्यचरणाप्तप्रसादात् सफलो योगोऽयमास्ताम् ।' (श्लो. 50 की टीका)

'आश्चर्य्यण्येव रत्नानि तेषां माला पद्धतिः । सा नागार्जुनाचार्येण विरचिता गुम्फिता। कथंभूता ? अनुभवसिद्धा ।' (श्लोक 100 की टीका)

जैन–परम्परा में आचार्य पद सर्वोच्च होता है । आचार्य पद पर आसीन व्यक्ति चतुर्विध जैन संघ (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) का संचालन करता है ।

फिर दो ग्रंथ एक ही विषय पर एक ही व्यक्ति द्वारा लिखा जाना अटपटा–सा लगता है । गुरु परंपरा का सम्मान और सर्वोपरि आदर जैन–परम्परा में प्रचलित हो है । जैन–तांत्रिक विद्या में इसे सर्वाधिक महत्व दिया जाता है । अतः योगरत्नमाला ग्रंथ का प्रणेता जैन होना चाहिए ।[1] गुणाकर जैन श्वेतांबर साधु था । संभवतः इसी नागार्जुन की परम्परा का रहा हो । ये दोनों विद्वान् सौराष्ट्र क्षेत्र के निवासी थे । गुणाकर ने अनेक स्थलों पर गुजराती शब्दों में स्पष्टीकरण दिया है ।

योगरत्नमाला के विषय— वशीकरण, विद्वेषण, उच्चाटन, दर्पण मे रूपदर्शन, चित्ररोदनान्तर्धान, पुरुषान्तर्धान (अदृशीकरण), कौ (कु) तूहल (कौतुक), अग्निस्तंभ, जलस्तंभ, पिशाचीकरण, 'लोमशातन', शस्त्रस्तंभ, देशांतरगमन, अकालग्रहण (सोम–सूर्यग्रहण), आवेशविधान, 'विषप्रयोगविधान', 'विषापहार', 'विषमज्वरापहार', भूतनाशन (ग्रहमोक्ष)', ज्योतिर्दर्शन, अंजन, चंद्रज्योत्स्नाधिक्य, वन्ध्यापुत्रजन्म, व्याघ्रदर्शन, मनुष्यदर्शन, 'वंध्याकरण', 'लिंगवृद्धिदार्ढ्यकरण', 'शुक्रस्तंभन', योनिशूलकरण–मोक्ष', 'कुष्ठ–करण', काकघातोद्वेग, गोहननजीवन, 'गर्भस्तंभ मोक्षण', दीपक–निर्वाण, 'वृश्चिक-कविषापहार', मेघादिजलस्तंभ, पटान्त (पटगत) चित्रादर्शन, प्रतिमाकर्षण, शस्त्र-शुक्त्याकर्षण, 'कुचनाश', भगसंकोचन, भगरक्तप्रवाह, रात्रिमोहधूप, दीप से काणीकरण, 'अन्धीकरण–बोध', कलहनिधान, अन्तर्धान, मृन्मयगजमद, द्रुमफलपुष्पाकर्षण, फलपुष्पो-पादन, दुग्ध का घृतापादन, जल का तक्रीकरण, तक्र का दधिकरण, मृत संजीवन, 'नारीपुरुषगुह्यबंध और मोक्ष', आसनबंध, अंधकार में ज्योतिदर्शन । स्पष्ट है कि योग-रत्नमाला में अनेक औषधप्रयोग भी दिए हैं । तांत्रिक और औषधप्रयोगों के लिए

---

[1] मुनि कांतिसागर इसमें शंका मानते हैं —

"तन्त्रविषयक 'योगरत्नमाला' और 'साधनमाला' वगैरह कुछ ग्रन्थों में पर्याप्त भाव-साम्य है; पर जहां तक भाषा का प्रश्न है, इन ग्रन्थों के रचयिता नागार्जुन (बौद्ध) ही जान पड़ते हैं; क्योंकि 'सिद्धनागार्जुन' (जैन) के समय जैन सम्प्रदाय में अपने आप को संस्कृत भाषा में व्यक्त करने की प्रणाली ही नहीं थी ।"

(खंडहरों का वैभव, पृ 300)

अनेक औषधियों—वानस्पतिक, खनिज और जान्तव द्रव्यों का उपयोग बताया गया है। यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

जैन परम्परा में औषधों और तंत्र संबंधी प्रयोगों का प्रचलन बहुत प्राचीनकाल से रहा है। अतः आश्चर्ययोगमाला को बाद की रचना मानने में कोई आग्रह नहीं होना चाहिए।

स्पष्ट है कि योगरत्नमाला के प्रयोग गुरुपरंपरागत है। टीकाकार गुणाकर को भी इसी परम्परा से एतद्‌विषयक ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। 'ऋतुमल्ललनायोनौ सप्तदिनावासितं क्रमात्सिद्धम्' (श्लोक 38 में 'सिद्धं गुरुपरंपरया सिद्धं' ऐसा अर्थ गुणाकर ने स्पष्ट किया है। कहीं-कहीं योग की सफलता नागार्जुन की कृपा से होना बताया है—'श्रीनागार्जुनप्रसादादेव योगः साधकानां फलतु।' श्लोक 41 की टीका में)। इस ग्रन्थ को समझने में गुणाकर की 'विवृति' अत्यंत उपादेय है।

चक्रपाणिदत्त ने अपने 'चिकित्सासंग्रह' या 'चक्रदत्त' के 'रसायनाधिकार' में मुनि नागार्जुन प्रणीत 'लोहशास्त्र' का संक्षिप्त संस्करण उद्‌धृत किया है। इसे 'रसेन्द्रचिंतामणि' में भी दिया गया है। यहां 90 आर्याओं मे लोहपाक लोह संस्कार) की विधि विस्तारपूर्वक समझायी गयी है। यह 'अमृतसार लौह' कहलाता है। प्रकरण के प्रारम्भ में लिखा है—

> नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
> तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद्विशदाक्षरैर्ब्रूमः ॥'

इसका उपसंहार करते हुए बताया गया है कि 90 आर्याओं श्लोकों) में, सात प्रकार की विधियों (साध्यसाधनपरिमाणविधि, लोहमारणविधि स्थालीपाकविधि पुटनविधि, प्रधाननिष्पत्तिपाकविधि, अभ्रकविधि, भक्षणविधि) के द्वारा गुरु परम्परा से उपदिष्ट अज्ञान-विपरीतज्ञान-सशय से रहित अनुष्ठान ग्रन्थसंदर्भ) को, मुनिरचितशास्त्र को पार करने के लिए सार लेकर, बताया गया है। इसको कोई भी 'षटकर्मा' अन्य बांधवों के उपकार के लिए कर सकता है। 'षट्कर्मा शब्द जैनी और श्रोत्रिय (ब्राह्मण) के लिए प्रयुक्त होता है।

> 'आर्याभिरिह नवत्या सप्तविधिना यथावदाख्यातम्।
> अमतिविपर्य्ययसंशयशून्यमनुष्ठानमुन्नीतम् ॥124॥
> मुनिरचितशास्त्रपारं गत्वा सारं ततः समुद्धृत्य।
> निबबन्ध बान्धवानामुपकृतये कोऽपि षट्कर्मा ॥125॥'

शिवदाससेन ने टीका में लिखा है—

> "षट्कर्मा श्रोत्रियः, उक्तं हि—"याजनं यजनं दानं विशिष्टाच्च परिग्रहः।
> अध्यापनमध्ययनं श्रोत्रियः षड्‌भिरेव च ॥ इति ॥"

जैनी भी 'षट्कर्मा' कहलाता है।

यहां इससे जैनमत की पुष्टि होती है। और भी, 'लौह शास्त्र' का प्रणेता 'मुनि नागार्जुन' है। मुनि शब्द से 'जैनमुनि' का अर्थ अधिक युक्तियुक्त है। अतः मेरे मत में अलबेरुनी द्वारा निर्दिष्ट नागार्जुन का रसविद्या पर महान् ग्रंथ यही होना चाहिए, जो कालक्रम से अब लुप्त हो चुका है। उसका सार चक्रपाणि और रसेन्द्र-चिंतामणिकार ने दिया है।

दक्षिण में नागार्जुन

जैन नागार्जुन के संबंध में दक्षिण में, विशेषतः कर्णाटक में, एक किंवदंती प्रचलित है। वहां नागार्जुन को पूज्यपाद की छोटी बहन का पुत्र अर्थात् भानजा बताया गया है। उसके पिता का नाम गुणभट्ट था। इस नागार्जुन ने स्वर्णसिद्धि (सोना बनाने की सफलता) प्राप्त की थी। उन्होंने वनस्पति शास्त्र में अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। पूज्यपाद पैरों में लेपकर गगन-गमन किया करते थे। संभवतः नागार्जुन ने भी इसे सीखा था। नागार्जुन मंत्र, तंत्र और रसविद्या के सिद्ध माने जाने लगे। नागार्जुन की रसगुटिका चुरा ली गयी। (देखें, नाथूराम प्रेमी, जै.सा.इ., पृ. 529, टि. 2)।

आयुर्वेद में नागार्जुन

आयुर्वेदग्रन्थों में नागार्जुन के संबंध में निम्न प्रमाण मिलते हैं—

(1) सुश्रुतसंहिता के प्रसिद्ध टीकाकार 'डल्हण' ने लिखा है —

'यत्र यत्र परोक्षे लिट्प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यमिति; प्रतिसंस्कर्ताऽपीह नागार्जुनएवं ' (सु. सू. 1/2 पर टीका में)

अर्थात् जहां जहां 'लिट्' (भूत) काल का प्रयोग मिलता है, वहां उसे प्रतिसंस्कर्ता का वचन समझना चाहिए। यहां नागार्जुन ही प्रतिसंस्कर्ता है। इस प्रसंग में डल्हण ने 'अपि' 'इह' और 'एव' शब्दों द्वारा निश्चयपूर्वक निःसंदिग्ध रूप से नागार्जुन को ही सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कार करने वाला बताया है।

(2) 'माधवनिदान' की 'मधुकोष' टीका के लेखक 'विजयरक्षित' ने नागार्जुनकृत 'आरोग्यमंजरी' से पाठ उद्धृत किये हैं —

'आरोग्यमञ्जर्यां नागार्जुनोऽप्याह—

उद्गारेऽपि विशुद्धतामुपगते कांक्षा न भक्तादिषु स्निग्धत्वं वदनस्य सन्धिषु रुजा कृत्वा शिरोगौरवम्।
मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिदं तत्रातिवृद्धे पुनर्हृल्लास–ज्वर–मूर्च्छनादि च भवेत् सर्वामयक्षोभणमिति ॥'

यह वचन 'अग्निमांद्यादिनिदान' प्रकरण (6) में अजीर्ण के प्रसंग में रसशेषाजीर्ण के संबंध में उद्धृत किया गया है। नागार्जुन ने 'आरोग्यमंजरी' नामक कोई ग्रंथ भी लिखा था। वह अब अप्राप्त है।

त्रिवेन्द्रम से 1928 में 'भदन्त नागार्जुन' प्रणीत 'रसवैशेषिकसूत्रम्' प्रकाशित

हुआ था। इस पर 'नरसिंहकृत' भाष्य भी है। रसवैशेषिकसूत्र में द्रव्यगुण संबंधी मौलिक सिद्धांतों---रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि पर मौलिक विचार सूत्र रूप में निबद्ध हैं। यह ग्रन्थ 'आरोग्यमंजरी' का ही अंश है। उपलब्ध ग्रन्थ की उपक्रम में लिखा है— 'अथात आरोग्यशास्त्रं व्याख्यास्यामः ॥१॥"

लगता है कि यह ग्रन्थ विस्तृत रहा होगा, जिसमें द्रव्यगुण के साथ निदान आदि विषय भी सम्मिलित रहे होंगे।

'आरोग्यमंजरीकार' (रसवैशेषिकसूत्रकार और 'सुश्रुतसंहिता के प्रति संस्कर्ता' नागार्जुन एक ही व्यक्ति रहे होंगे; क्योंकि 'सुश्रुतसंहिता' और रसवैशेषिक' के मत बहुत समान हैं।

ऐसी मान्यता है कि सुश्रुतसंहिता में पहले 'उत्तरतंत्र' नहीं था। उसे बाद में प्रतिसंस्कार के अवसर पर नागार्जुन ने जोड़ा था। वाग्भट (4थी शती) ने सुश्रुत-संहिता के उत्तरतंत्रसहित संस्करण का उपयोग ही किया था। अरबी में खलीफा हारूनुल रसीद के काल मे (8वीं शती में) जो अनुवाद हुआ था वह भी उत्तरतंत्र सहित का है। अतः तब तक नागार्जुन ने यह प्रतिसंस्कार कर दिया था।

डल्हण के समय में यह निश्चित मान्यता प्रचलित थी कि नागार्जुन ने ही सुश्रुत-संहिता का प्रतिसंस्कार किया है। प्रतिसंस्कृत सुश्रुतसंहिता में श्रीपर्वत, सह्याद्रि, देवगिरि, मलयाचल आदि दक्षिण भारत के पर्वतों का उल्लेख मिलता है। चंदन के लिए 'मलयज' शब्द आया है।

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का मूल स्थान दक्षिण भारत था। वे बहुत समय तक श्रीपर्वत और अमरावती में रहे थे। उनका काल बुद्ध के निर्वाण के चार सौ वर्ष बाद माना गया है (ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि गौतम की मृत्यु के बाद 400 वर्ष बाद नागार्जुन हुआ। Beal's 'Buddhist Records', Vol. II, P. 212)। तदनुसार उनका काल ई. पू. 33 निश्चित होता है। वह बौद्ध परम्परा में बुद्ध के बाद 13वां आचार्य और उनका शिष्य आर्यदेव 14वां आचार्य था। 401 ई. में चीनी भाषा में 'कुमारजीव' ने 'नागार्जुन की जीवनी' का अनुवाद किया था। इससे बौद्ध नागार्जुन की अंतिम कालमर्यादा निर्धारित हो जाती है।

बौद्ध नागार्जुन कनिष्क का समकालीन था। 'ह्वेनत्सांग' के अनुसार वह 'सोतोपोहो' (सातवाहन) राजा का समकालीन और उसका आश्रित भी था। वह सात-वाहन राजा 'शातकर्णि' था या और कोई, यह निश्चित नहीं है। संभव है वह शातकर्णि (द्वितीय) था जिसने वायुपुराण के अनुसार 56 वर्ष राज्य किया था।

इससे नागार्जुन का काल ई.पू. प्रथम शती एवं ईसवीय प्रथम शती के मध्य प्रमाणित होता है।

इसी नागार्जुन ने 'सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कार' और 'आरोग्यमंजरी' की रचना

की हो, ऐसा मानने में आपत्ति नहीं है।

बौद्ध नागार्जुन की अन्य रचनाएं—उपायहृदय, माध्यमिककारिका, विग्रहव्यावर्तनी, रत्नावली, सुहृल्लेख, द्वादशमुखशास्त्र, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र हैं।

'सिद्धयोग' (वृन्दमाधव की व्याख्या 'कुसुमावली' में 'नागार्जुनवार्तमाला' का उल्लेख है। 'नागार्जुनवार्तमालायां पठ्यते' (व्याख्या कुसुमावली, पृ. 172)।

(3) 'चक्रपाणिदत्त' ने 'चिकित्सासंग्रह' या 'चक्रदत्त' के 'रसायनाधिकार' में मुनि नागार्जुन प्रणीत गंभीर लोहशास्त्र का सार 90 आर्याओं में लिखा है। इसे 'अमृतसार लौह' कहा है। 'रसेन्द्रचिंतामणि' में भी यह लौहविधि दी गई है।

'नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद्विशदाक्षरैर्ब्रूमः॥'

'चक्रपाणि' ने नेत्ररोगचिकित्साधिकार में तिमिरादिरोगों के लिए 'नागार्जुनीवर्ति' का पाठ दिया है। यह पाठ नागार्जुन ने पाटलिपुत्र के स्तंभ पर लिखवाया था—

'नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके।'

(4) नागार्जुन विरचित निम्न रसशास्त्र और तंत्र सम्बन्धी ग्रन्थ मिलते हैं—

1. कक्षपुटम् या कक्षपुटतंत्रम्
2. रसरत्नाकर
3. रसेन्द्रमंगल
4. रसकक्षपुटम्

(5) नागार्जुनकृत कामशास्त्र पर 'रतिशास्त्र' ग्रन्थ प्राप्त है।

उपर्युक्त रस, तंत्र, कामशास्त्रसम्बन्धी सब ग्रन्थ 'सिद्धनागार्जुन' के हैं। उनको 'सरहपा' का शिष्य बताया जाता है। उनका मूलस्थान विदर्भ में था। नालंदा में उनकी शिक्षा-दिक्षा हुई थी। उत्तरी भारत में रसविद्या के प्रचार-प्रसार का श्रेय उनको प्राप्त है। वे नालंदा में प्रधान आचार्य भी रहे। इनका काल 7वीं-8वीं शती है।

तिब्बती लामा तारानाथ के इतिहास में बौद्ध नागार्जुन और सिद्ध नागार्जुन की जीवनी मिल-जुल गयी है।

नागपुर के पास 'रामटेक' में उनका निवास था। वहां एक गुफा अब भी है, जिसे 'नागार्जुन की गुफा' कहते हैं। 'डा. हीरालाल' ने लिखा है—

विदर्भदेश के एक ब्राह्मण का लड़का 'रामटेक' की पहाड़ी पर मौत की प्रतीक्षा करने को भेज दिया गया था, क्योंकि ज्योतिषियों ने उसके पिता को निश्चय करा दिया था कि वह अपनी आयु के सातवें बरस मर जायगा। यह बालक रामटेक के पहाड़ी की एक खोह में नौकरों के साथ जा टिका। अकस्मात् वहां से 'खसर्पण महाबोधि-

सत्व' निकले और उस बालक की कथा सुनकर आदेश दिया कि 'नालेन्द्र' विहार को चला जा, वहां जाने से मृत्यु से बच जायेगा । 'नालेन्द्र' अथवा 'नालिन्दा' मगध देश में बौद्धों का एक बड़ा विहार तथा महाविद्यालय था । उसमें भर्ती होकर यह बरारी बालक अत्यन्त विद्वान् और बौद्धशास्त्रवेत्ता हो गया । इसके व्याख्यान सुनने को अनेक स्थानों से निमंत्रण आये । उनमें से एक नाग—नागिनियों का भी था । 'नागों के देश' में तीन मास रह कर उसने एक धर्म-पुस्तक 'नागसहस्रिका' नाम की रची और वहीं पर उसको 'नागार्जुन' की 'उपाधि' मिली, जिस नाम से अब वह प्रख्यात है । रामटेक पहाड़ में अभी तक एक कन्दरा है जिसका नाम नागार्जुन ही रख लिया गया है ।" (डॉ हीरालाल, मध्यप्रदेशीय भौगोलिक नामार्थ परिचय पृ. 1 –1) ।

उपसंहार- हमारे मत में भारतीय साहित्य में नागार्जुन नाम से तीन महापुरुष हो चुके हैं -

(1) **बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन**– (पहली शती ई. पू. से ई. पहली शती कनिष्क व शातवाहन राजा के समकालिक । महायानप्रवर्तक । माध्यमिकदर्शन के प्रवक्ता । शून्यवाद के प्रवर्तक । 'सुश्रुतसंहिता' के प्रतिसंस्कर्ता, 'आरोग्यमंजरी' के कर्ता ।

(2) **सिद्धनागार्जुन** – (7वीं- 8वीं शती) - इनका मुख्य कार्य क्षेत्र नालंदा रहा । रसशास्त्र, तंत्र और मंत्र में निपुण व प्रसिद्ध है । कक्षपुट, रसकक्षपुट, रसरत्नाकर, रसेन्द्रमंगल रतिशास्त्र के प्रणेता ।

(3) **जैन सिद्ध नागार्जुन**— (3री शती) —इनका कार्य क्षेत्र 'वलभी' सौराष्ट्र क्षेत्रान्तर्गत (सोमनाथ के निकट), और 'ढंकगिरि' रहा । जैन आगामों की वाचना तैयार करायी । वल्लभी में जैन मुनि सम्मेलन का संचालन । योगरत्नमाला, लोहशास्त्र और नागार्जुनीकल्प ग्रन्थों की रचना की ।

नागार्जुन संबंधी अन्य ज्ञातव्य —

'योगशतक'—इसमें आयुर्वेद के आठ अंगों के अनुसार औषधयोगों का संग्रह है । कोई सौ योगों का संकलन है । विशेषता यह है कि अष्टांगों में 'वाजीकरण' के स्थान पर 'पंचकर्म' को परिगणित किया गया है । यह ग्रन्थ तिब्बती भाषा में अनुवादित हो चुका है, जिसकी पुष्पिका में इसे 'सिद्धनागार्जुन' द्वारा विरचित बताया गया है ।

फिर भी, वररुचि कृत योगशतक की अपेक्षा इसमें कोई भिन्न पाठ नहीं है ।

'योगशतक' के अनेक पद्य वृन्दमाधव (9वीं शती) और चक्रदत्त (11वीं शती) में मिलते हैं । चक्रपाणि (11वीं शती) और निश्चलकर ने इसको उद्धृत किया है ।

तीसटकृत चिकित्साकालिका और योगशतक में विषयवस्तु का गठन प्राय: समान है ।

'पंचसूत्र' और 'भेषजकल्प' नामक दो अन्य ग्रन्थ नागार्जुन द्वारा रचित हैं, जो तिब्बती में अनुवादित होकर 'तंजूर' संग्रह में सुरक्षित हैं ।

'वार्तामाला' और 'योगमंजरी' भी नागार्जुन–प्रणीत हैं। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख 'निश्चलकर' ने चक्रदत्तटीका में किया है। 'नागार्जुन–वार्तामाला' नाम से 'श्रीकंठदत्त' ने 'व्याख्याकुसुमावलि' में उल्लेख किया है।

ये सब ग्रंथ सिद्धनागार्जुन के होने चाहिए; क्योंकि इनकी रचनाशैली पूर्वमध्ययुगीन है।

आचार्य प्रियव्रत शर्मा 'कक्षपुट' और 'योगरत्नमाला' में कुछ योगों और पद्यों की समनता देखकर दोनो को एक ही व्यक्ति की कृतियां मानते हैं।[1] परन्तु यह उचित नहीं है। कक्षपुट का कर्ता सिद्धनागार्जुन है। इसकी पुष्पिका में इस नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है —

'इति श्रीसिद्धनागार्जुनविरचिते कच्छपुटे प्रतिवश्यं नाम पंचमः पटलः।'

'योगरत्नमाला' के मूल पाठ में तथा टीकाकार गुणाकर ने इसके रचयिता का 'आचार्य नागार्जुन या नागार्जुनाचार्य' नाम से ही उल्लेख किया है। अतः दोनों की भिन्नता प्रमाणित होती है। आचार्य नागार्जुन जैन परंपरा के विद्वान् थे। दोनों ग्रन्थों में योगों व पाठों की समानता होना स्वाभाविक है, क्योंकि दोनों के विषय समान हैं, अतः तत्कालीन प्रचलित योग भी एक दूसरे के ग्रन्थ में आ गये हैं। तांत्रिक प्रयोग भी आयुर्वेदीय प्रयोगों के समान अनेक ग्रन्थों के प्रायः समान रूप से मिल जाते हैं।

धनञ्जय (7वीं-8वीं शती)

यह दिगम्बर गृहस्थ विद्वान् (श्रावक) थे। 'द्विसंधान महाकाव्य' के अन्तिम पद्य की टीका में टीकाकार ने धनंजय के पिता का नाम 'वसुदेव', माता का नाम 'श्रीदेवी' और गुरु का नाम 'दशरथ' दिया है।

धनंजय के निम्न ग्रन्थ हैं — 1. धनंजयनाममाला, 2. अनेकार्थनाममाला, 3. राघव-पाण्डवीय–द्विसंधानमहाकाव्य, 4. विषापहारस्तोत्र, 5. अनेकार्थ–निघण्टु।

धनंजयनाममाला के अन्तिम पद्य में अकलंक और पूज्यपाद का उल्लेख है —

'प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयपश्चिमम् ॥20॥'

अकलंक के प्रमाण, पूज्यपाद के लक्षण और कवि (धनंजय) के द्विसंधान काव्य को 'रत्नत्रय' कहा गया है। इस आधार पर इनका काल 7वीं या 8वीं शती प्रमाणित होता है। आचार्य प्रभाचंद और आचार्य वादिराज (11वीं शती) ने धनंजय के 'द्विसंधान–महाकाव्य' का उल्लेख किया है।

---

[1] 'योगरत्नमाला' भूमिका, पृ. 12–13।

धनंजय जैनसंस्कृत कोषकारों में सर्वप्राचीन हैं। इनके दो कोष 'नाममाला' और 'अनेकार्थनाममाला' हैं। वीरसेन कृत 'धवलाटीका' में अनेकार्थनाममाला का "हेतावेवं प्रकारादि" श्लोक उद्धृत है। धवलाटीका का रचनाकाल शक सं 738 (816 ई.) है। अत: इन कोषों का रचनाकाल 780–816 ई. के मध्य प्रमाणित होता है।

जैन परम्परा में स्तोत्र, मंत्र और तंत्रों से रोगों, विष और भूतबाधा के निवारण के उपाय बाहुल्येन मिलते हैं। आज भी यति–मुनि इनका उपयोग करते मिलते हैं। धनंजय का 'विषापहारस्तोत्र' बहुत प्रसिद्ध है। इसमें 40 इन्द्रवज्रा छंद हैं। अन्तिम पद्य का छंद भिन्न है, जिसमे कर्ता ने अपना नाम दिया है। इसमे प्रथम तीर्थंकर वृषभ की स्तुति की गई हैं। इस स्तोत्र का नाम 14वें पद्य में आये 'विषापहार' शब्द से हुआ है, इस पद्य में कहा गया है कि हे भगवन् लोग विषापहार मणि, औषधियों, मंत्र और रसायन की खोज में भटकते फिरते हैं; वे यह नहीं जानते कि ये सब आपके ही पर्यायवाची नाम हैं।'

इस स्तोत्रपर 'नागचन्द्रसूरि' और 'पार्श्वनाथ गोम्मट' कृत 'टीकाएं' हैं और 'अवचूरि' तथा देवेन्द्रकीर्तिकृत 'विषापहार व्रतोद्यापन' नामक कृतियां मिलती हैं।

'नागचंद्रसूरि' कर्नाटक निवासी, ब्राह्मण कुलोत्पन्न और श्रीवत्सगोत्री थे उन्हें 'प्रवादिराज केसरी' विरुद प्राप्त था। यह मूलसंघ, देशीगण, पुस्तकगच्छ के भट्टारक ललितकीर्ति के शिष्य देवचद्रमुनि के शिष्य थे। इनका समय वि. की 16वीं शती माना जाता है।

दुर्गदेव (1032 ई.)

यह संयमसेन (संयमदेव) मुनीन्द्र के शिष्य थे। उनकी ही आज्ञा से दुर्गदेव ने 'मरणकरण्डिका' आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर 'रिष्ट–समुच्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ की प्रशस्ति मे दुर्गदेव ने स्वयं को 'देशयती' कहा है, अत: ये श्रावकव्रतों के अनुष्ठाता क्षुल्लक साधु प्रतीत होते हैं। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा है। इसकी रचना वि. सं 1089 (ई 1032) श्रावण शुक्ला 11, मूलनक्षत्र में 'श्रीनिवास राजा' के काल मे 'कुंभनगर' के शांतिनाथ मंदिर में पूर्ण हुई थी—

> 'संवच्छर इगसहसे बोलीणे णवयसीइ-संजुत्ते (1089)।
> सावण--सुक्के यारसि दियहम्मि मूलरिक्खम्मि ॥260॥
> सिरिकुंभणयरणए (?) लच्छिणिवास–णिवइ–रज्जम्मि।
> सिरि 'संतिणाहभवणे' मुणिभवियस्स उभे रम्मे ॥26 ॥
> इति रिट्ठसमुच्चयसत्थं सम्मत्त ॥'

इस ग्रन्थ मे 261 पद्य हैं। रिष्ट या अरिष्ट अर्थात् निश्चित मृत्युसूचक लक्षणों, शकुनों को जानने के लिए यह उत्तम ग्रंथ है। आयुर्वेद में रिष्ट ज्ञान का बहुत महत्व है।

अरिष्ट देखकर वैद्य को अपयश प्राप्त न हो इसके लिए 'प्रत्याख्याय' (रोगी अब नहीं बच सकेगा ऐसा कहकर) चिकित्सा करने का उपदेश शास्त्र में है।

यह ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थ सीरिज' में मुनि जिनविजयजी ने प्रकाशित कराया है।

दुर्गदेव की अन्य रचना 'अर्घकांड' है। इसमें भावों के तेजी-मंदी का विज्ञान 149 गाथाओं में वर्णित हैं।

महेन्द्र जैन (11वीं शती)

यह कृष्ण वैद्य का पुत्र था। इसका नाम 'महेन्द्र भोगिक' मिलता है। यह थानेश्वर का निवासी था। रा. प्रा. वि. प्र. 'जोधपुर' ग्रंथांक 9510 'द्रव्यावली-समुच्चय' में कर्ता का नाम 'महेन्द्र जैन' निर्दिष्ट है। इस हस्तप्रति का लेखनकाल वि. सं. 1709 (1652 ई) है और रचनास्थान उदयपुर है।

महेन्द्र जैन द्वारा विरचित निघंटु ग्रंथ का नाम 'द्रव्यावली' या 'द्रव्यावलीसमुच्चय' है। आनंदाश्रम प्रेस पूना (1925) से प्रकाशित 'धन्वन्तरिनिघंटु' में 'द्रव्यावलि' भी समन्वित है। भांडारकर इंस्टीट्यूट पूना में द्रव्यावलि की 8 प्रतियां मौजूद हैं।

ग्रन्थ का प्रथम भाग 'द्रव्यावलि' है। इसे 'द्रव्यगुणरत्नमालिका' भी कहा है। पूना की हस्तप्रति ग्रंथांक 106 में ग्रन्थारंभ में 'पार्श्वनाथ' को नमस्कार किया गया है—

'कृष्णत्विषेरिष्टविदारकाय, तुभ्यं जगल्लोचनलोभनाय।
श्रीपार्श्वनाथाय सनातनाय नमो नमस्तु पुरुषोत्तमाय ।।1।।'

चिकित्सा हेतु कल्पयोगों के रूप में 7 सात वर्गों में द्रव्यों का समुच्चय किया गया है।

'अनंतपारस्य विगृह्य किंचित्सारं चिकित्सागमसागरस्य।
उक्तो मया संप्रति कल्पयोगैर्द्रव्यावली नाम समुच्चयोऽयम् ।।2।।'

ये गण या वर्ग दोष-रोग-प्रभाव को ध्यान में रखकर उनको क्वाथादि कल्पनाओं के रूप में देने के लिए बताये गये हैं। इसमें नामपर्याय शैली से औषधिद्रव्यों का निर्देश है। इसके अन्त में लिखा है —

'योगानेतान्प्रयुञ्जानः पुरुषो नित्यमात्मवान्।
आप्नुयादज्वरारोग्यं बलवर्णमतिस्विनः ।।
इति 'द्रव्यगुणरत्नमालिका' समाप्ता।'

इसमें 373 द्रव्यों का उल्लेख है—

'शतत्रयं च द्रव्याणां त्रिसप्तत्यधिकोत्तरम्।
हिताय वैद्यविदुषां 'द्रव्यावल्यां' प्रकाशितम् ।।' (उपक्रम 7/4)।

आगे, द्वितीय भाग में गुणकर्मशैली से द्रव्यों का विवरण दिया है। इसमें द्रव्यों के नामों के साथ गुणकर्म भी बताये गए हैं। लिखा है—

'द्रव्यावलीनिविष्टानां द्रव्यानां नामनिर्णयम् ।
लोकप्रसिद्धं वक्ष्यामि यथागमपरिक्रमम् ।।'

इस भाग को 'द्रव्यावलीनिघण्टु' कहा गया है । कुछ द्रव्य द्रव्यावली की अपेक्षा अधिक दिए हैं । इसमें भी द्रव्यावली के समान 7 वर्ग हैं—

1. गुडूच्यादि, 2. शतपुष्पादि, 3. चंदनादि, 4. करवीरादि, 5. आम्रादि, 6. सुवर्णादि, 7. मिश्रक ।

ग्रन्थ के अन्त में लिखा है— 'इत्याद्युक्तानि बहुशो मिश्रीकृत्य समासतः ।
उक्तं निखिलेनेतद्धि निर्घण्टुज्ञानमुत्तमं ।।'

भिषजा बुद्धिवृद्धयर्थं धन्वन्तरिविनिर्मितं ।
इति 'धन्वन्तरिकृतो' निर्घंटः समाप्तः ।

इसी से यह पुराग्रन्थ 'धवन्तरिनिघंटु' कहलाता है। वस्तुतः धन्वन्तरि इसके प्रणेता ज्ञात नहीं होते; क्योंकि द्वितीय भाग के प्रारम्भ में धन्वन्तरि को नमस्कार किया गया है—

'नमामि धन्वन्तरिमादिदेवं सुरासुरैर्वंदितपादपद्मम् ।
लोके जरारुग्भयमृत्युनाशं धातारमीशं विविधौषधीनाम् ।'

धन्वन्तरिकृत रचना होने पर स्वयं को नमस्कार वचन नहीं मिलना चाहिए । वास्तव में इसे वर्तमान रूप देने का कार्य कृष्ण-भौगिक पुत्र महेन्द्र जैन ने किया था । ग्रन्थ के अन्त में वह अपना परिचय इन शब्दों में देता है—

'कृष्णभोगिकपुत्रेण थानेश्वरनिवासिना ।
'महेन्द्रभोगिकनेयं मत्ता 'द्रव्यावली' शुभा ।।'

वाग्भटटीकाकार हेमाद्रि और अरुणदत्त (13वीं शती) के काल तक यह ग्रन्थ वर्तमान रूप में उपलब्ध था, हेमचंद्र (12वीं शती), और मंख (12वीं शती) ने धन्वन्तरिनिघंटु को उद्धृत किया है । अतः इसका काल 11वीं शती होना प्रमाणित होता है ।

जिनदास (12वींशती)

यह जैन विद्वान् थे । इनका काल 12वीं शती माना जाता है ।[1] यह प्रद्युम्नक्षम के शिष्य बताये जाते हैं । इन्होंने चरकसंहिता पर कोई व्याख्या लिखी थी । इसके अतिरिक्त इनके 'जाम्बूस्वामिचरित', 'कल्पभाष्यचूर्णि', 'कर्मदण्डी' आदि अन्य ग्रन्थ हैं ।

---

[1] प्रियव्रत शर्मा, आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ. 213

दुर्लभराज (12वीं शती उत्तरार्ध)

यह जैन विद्वान् गृहस्थ था। गुजरात के चालुक्यवंशीय शासक कुमारपाल (1143 से 1174) और उनके उत्तराधिकारी भीमदेव के मंत्री (अमात्य) पद पर रहा। इनका पुत्र जगदेव भी विद्वान् और कुमारपाल का मंत्री था—

'श्रीमान् दुर्लभराजस्तदपत्यं बुद्धिधामसुकविरभूत्।
यं कुमारपालो महत्तमं क्षितिपतिः कृतवान्।।'

इन्होंने 4-5 ग्रन्थ लिखे बताये जाते हैं—1 गजप्रबंध, 2 गजपरीक्षा, 3 तुरंगप्रबंध, 4 पुरुष-स्त्रीलक्षण, 5 स्वानशास्त्र या शकुनशास्त्र। संभवतः गजप्रबंध और गजपरीक्षा एक ही रचना है।

1 **गजप्रबंध** –

इसके अन्य नाम 'हस्तिपरीक्षा' और 'गजपरीक्षा' है। यह लगभग 1500 श्लोकों में पूर्ण हुआ है। 'जैन ग्रन्थावलि' (पृ. 361) में इसका उल्लेख है। इसमें हाथियों के प्रकार, लक्षण, गुण, विशेषताएं पालनाविधि आदि वर्णित हैं। इसकी रचना वि.सं.1215 (1158 ई.) के लगभग हुई थी।

2 **तुरंगप्रबंध** —

इसमें घोड़ों की जातियां, लक्षणों आदि का विवरण है। इसकी रचना भी वि. सं. 1214 (1158 ई.) के लगभग हुई।

3 **स्वप्नशास्त्र** —

इसमें स्वप्नों के बारे में विस्तार से वर्णन है। इसमें कुल 311 श्लोक हैं। ग्रंथ में दो अध्याय हैं। प्रथम अधिकार में 152 श्लोकों में शुभस्वप्नों का विवरण है और द्वितीय अधिकार में 159 श्लोकों में अशुभस्वप्नों का विचार किया है। स्वप्नों से शकुन एवं भविष्य का ज्ञान किया जाता है।

4 **सामुद्रिकतिलक** —

इसका अपर नाम 'पुरुष-स्त्रीलक्षण' है। दुर्लभराज अपने जीवनकाल में इस रचना को पूर्ण नहीं कर सका, अतः उसके पुत्र जगदेव ने इसका शेष अंश पूरा किया। इसमें 800 आर्याएं हैं और पांच अधिकार हैं जिनमें क्रमशः 298, 99, 46, 188 और 149 पद्य हैं।

इस ग्रंथ में विस्तार से पुरुष और स्त्री के लक्षण बताये गये हैं।

प्रथम अधिकार में पादतल से सिर के बालतक अंग–प्रत्यंगों का वर्णन और उनका शुभाशुभ विचार है। द्वितीय अधिकार में क्षेत्रों की संहति, सार आदि आठ प्रकार और पुरुष के बत्तीस लक्षण हैं। तृतीय अधिकार में आवर्त, गति, छाया, स्वर आदि विषयों का वर्णन है। चतुर्थ अधिकार में स्त्रियों के व्यञ्जन (लक्षण), स्त्रियों की बारह प्रकृतियां (देव आदि), पद्मिनी आदि के लक्षण बताये हैं।

अन्त में दस पद्यों में ग्रन्थकार की प्रशस्ति है। इससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना कवि जगदेव ने की है। (संभवतः पूर्ण किया है)।

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

हेमचंद्रसूरि या हेमचन्द्राचार्य (12वीं शती)

जैन विद्वानों की परम्परा में आचार्य हेमचंद्र का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनका समय 1092–1173 ई. माना जाता है। यह श्वेतांबर जैन आचार्य थे। इनकी अद्‌भुत प्रतिभा, विलक्षणप्रज्ञा और विस्तृत साहित्य–सृष्टि के कारण इनको 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहा जाता है। यह गुर्जरदेश (गुजरात) के चालुक्यवंशी नरेश सिद्धराज जयसिंह (1084 से 1142 ई.) के समकालीन थे और उनके द्वारा राज्यसम्मानित हुए थे। उनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (1143 से 1174 ई.) के भी यह समकालीन रहे। कुमारपाल के मुख्य परिपोषक और उपदेशक थे।

निघण्टुशेष —

आचार्य हेमचंद्र की आयुर्वेदीय औषधि–वृक्षों और पौधों पर यह उत्तम रचना है। यह कोश है। इसमें वनौषधियों के नाम–पर्याय दिये गये हैं और 6 कांड हैं—

1. वृक्षकाण्ड—183 श्लोक	4. शाककाण्ड—34 श्लोक
2. गुल्मकाण्ड—104 श्लोक	5. तृणकाण्ड— 17 श्लोक
3. लताकाण्ड– 45 श्लोक	6. धान्यकाण्ड—15 श्लोक

अन्त में पुष्पिका है –'इत्याचार्यहेमचंद्रविरचिते 'निघंटुशेषे' धान्यकांड षष्टः समाप्तः इति 'निघंटुशेषे' ग्रन्थः श्रीरस्तु कल्याणमस्तु।'

इसमें रुद्राक्ष, पुत्रंजीव, चाणक्यमूलक, यावनाल आदि द्रव्यों का उल्लेख भी हुआ है।

इस कोश की रचना के संबंध में आचार्य ने स्पष्ट किया है—

'विहितैकार्थ–नानार्थ–देश्यशब्दसमुच्चयः।
निघण्टुशेषं वक्ष्येऽहं नत्वाऽर्हत्पदपङ्कजम्॥'

अर्थात् 'एकार्थकोश (अभिधानचिंतामणि), नानार्थकोष (अनेकार्थसंग्रह) और देश्यकोश (देशीनाममाला) की रचना करने के बाद अर्हत्–तीर्थंकर के चरणकमल को नमस्कार कर इस 'निघण्टुशेष' नामक कोश को करूंगा।

निघण्टुशेष वनस्पतिकोश–ग्रन्थ है। 'निघण्टु' शब्द का अर्थ वैदिक शब्दों का संग्रह है। वनस्पतियों के नाम–संग्रह की परंपरा भी भारत में प्राचीनकाल से प्रचलित रही। 'निघण्टुशेष' भी इसी क्रम की एक कृति है। अमरकोश में 'वनौषधिवर्ग' पृथक् से दिया है।

'निघण्टुशेष' पर 17वीं शती में खरतरगच्छीय श्रीवल्लभगणि ने 'टीका' लिखी है। यह ग्रन्थ टीका सहित सन् 1968 में लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। मुद्रित प्रति में छः कांडों की श्लोक संख्या क्रमशः 181, 105, 44, 34, 17, 15; कुल 396 श्लोक हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से यह उपयोगी ग्रंथ है। आचार्य हेमचंद्र का साहित्य बहुत विशाल है। इनकी व्याकरण, कोश, साहित्य और योग पर विस्तृत रचनाएं मिलती हैं। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह की प्रार्थना पर वि. सं. 1145 के लगभग अपने व राजा के नाम को संयुक्त करते हुए 'सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन' नामक व्याकरण की करीब सवालाख प्रमाण श्लोकों में रचना की थी। शब्दानुशासन (व्याकरण) की सर्वांगपूर्ण रचना करने के बाद इन्होंने कोशग्रंथों की रचना की। 'अभिधानचिंतामणि नाममाला' के प्रारंभ में लिखा है —

'प्रणिपत्यार्हतः सिद्धसाङ्गशब्दानुशासनः।
रूढ-यौगिक-मिश्राणां नाम्ना मालां तनोम्यहम् ।।1।।

विद्वानों की मान्यता के अनुसार आचार्य हेमचंद्र ने पहले सिद्धहेमचंद्र शब्दानुशासन (व्याकरण), उसके बाद 'काव्यानुशासन' (साहित्य—अलंकार) और उसके बाद 'अभिधानचिंतामणिनाममाला' (कोश) की रचना की थी।

आचार्य हेमचंद्र द्वारा विरचित कोश ग्रंथ चार प्रकार के हैं—1. एकार्थ, 2. अनेकार्थ, 3. देश्य, 4. निर्घण्ट (निघण्ट)।

'प्रभावक—चरित' मे 'हेमचंद्रसूरिप्रबंध' में लिखा है—

'एकार्थानेकार्था देश्या निर्घण्ट इति च चत्वारः।
विहिताश्च नामकोशा भुवि कविता नटयुपाध्यायाः ।।833।।'

1. **अभिधानचिन्तामणिरत्नमाला** - यह अमरकोश की शैली पर एकार्थक (एक ही अर्थ को बताने वाले) शब्दों का कोश है। इसमें 6 कांडों में रूढ़, यौगिक और मिश्र नामों का संग्रह है। कुल 1541 श्लोक हैं। इसमें वाचस्पति, हलायुध, अमर, यादवप्रकाश वैजयन्ती कोशों के प्रमाण दिये हैं। अमरकोश के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। अमरकोश से यह शब्द-संख्या में डेढ़ गुना बड़ा है।

इस पर स्वयं आचार्य हेमचद्र ने 'तत्वाभिधायिनी' नाम से स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है, इसमें 'शेष सग्रह' में अतिरिक्त शब्दों का उल्लेख किया है। वृतिसहित इस कोश की श्लोक संख्या लगभग साड़े आठ हजार है। इसमें 'व्याडि' के कोश से भी प्रमाण दिये हैं।

2. **अनेकार्थसंग्रह**—इस कोश मे एक शब्द के अनेक अर्थ बताये गये हैं। इसमें सात कांड हैं। इसकी रचना 'अ. चि. र. माला' के बाद हुई थी, ऐसा इसके प्रथम पद्य से सूचित होता है। इस पर आचार्य हेमचंद्र के शिष्य आचार्य महेन्द्रसूरि ने 13वीं शती

के आरम्भ में 'अनेकार्थ-कैरवाकर-कौमुदी' नामक टीका लिखी है। इस टीका में अनेक कोशों को उद्धृत किया गया है—विश्वप्रकाश, शाश्वत, रभस, अमरसिंह, मंख, हुग्ग, व्याडि, धनपाल, भागुरि, वाचस्पति, यादव की रचनाएं, धन्वन्तरिकृत निघण्टु और लिंगानुशासन।

3. **देशीशब्दसंग्रह**—इसे 'देशीनाममाला' या 'रयणावली' (रत्नावली) कहते हैं। यह देश्य (देशी) शब्दों का कोश है। ऐसा कोश अब तक नहीं रचा गया। इसमें कुल 783 गाथाएं हैं और कुल 8 वर्ग हैं। इसमें एकार्थ और अनेकार्थ शब्दों का आख्यान है। इस के पूर्व ही कुछ देशी शब्दकोश लिखे गये थे। प्रारम्भ की दूसरी गाथा में बताया गया है कि पादलिप्ताचार्य आदि द्वारा विरचित देशी कोशों के होते हुए भी किस प्रयोजन से इस ग्रंथ को लिखा है। तीसरी गाथा में लिखा है—'जो शब्द संस्कृत-व्याकरणों के नियमों से सिद्ध नहीं होते, न संस्कृत कोशों में मिलते हैं और न अलकार-शास्त्र में प्रसिद्ध गौडी लक्षणाशक्ति से अभीष्ट अर्थ मिलते हैं, उनको देशी मानकर इस कोश में निबद्ध किया गया है—

'जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउडलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥3॥

4. **निघण्टुशेष**—में उन वनस्पति-नामों का संग्रह जो 'अभिधानचिंतामणि' में निबद्ध नहीं किये गये हैं।

आचार्य हेमचंद्र ने छंदशास्त्र पर 'छन्दोनुशासन' और योगशास्त्र पर 'योगशास्त्र-टीका सहित' भी ग्रंथ लिखे हैं। अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं।

गुणाकर (1239 ई.)

यह सिद्धघटीय श्वेताम्बर साधु या भिक्षु थे। इन्होंने नागार्जुन कृत 'योगरत्न-माला' या 'आश्चर्यरत्नमाला' पर 'विवृति' या 'लघुविवृति' नामक टीका लिखी है।[1] इसकी अन्तिम पुष्पिका में लिखा है –

'इति 'श्रीसिद्धघटीय' श्वेताम्बर पण्डित 'श्री गुणाकर' विरचिता 'श्रीनागार्जुन' प्रणीत 'योगरत्नमाला लघुविवृतिः' समाप्तिमगमत।'

इसकी रचना वि. सं. 1296 (1239 ई.) में की गई थी। इससे पूर्व भी इस ग्रन्थ पर अनेक बड़ी टीकाएं विद्यमान थीं।

---

1 'योगरत्नमाला' सहित यह टीका (विवृति) आचार्य प्रियव्रत शर्मा द्वारा संपादित होकर चौखम्भा ओरियंटालिया, वाराणसी से सन् 1977 में प्रकाशित हुई है।

'श्रीनृपविक्रमसमये द्वादशनवषड्भिरङ्किते वर्षे ।
रचिता 'गुणाकरेण' श्वेताम्बरभिक्षुणा 'विवृतिः ।।'
आत्मस्मरणाय मया विवृता नागार्जुनप्रणीतेयम् ।
आश्चर्यरत्नमाला अग्रेतनवृद्धटीकातः ।।

इस टीका की एक प्राचीन हस्तप्रति संवत् 1701 (1645 ई) की भांडारकर रिसर्च इन्टीट्यूट, पूना (ग्रंथांक 175) में है।

विजयरक्षित ने माधवनिदान की मधुकोष टीका में गुणाकर को उद्धृत किया है,[1] डा. ए. आर. हर्नले ने विजयरक्षित का काल 1240 ई. माना है।[2] जो सही नहीं है।

इससे स्पष्ट होता है कि गुणाकर आयुर्वेद वनस्पति शास्त्र और तंत्रविद्या के प्रकांड पण्डित थे। इन्होंने 'योगरत्नमाला' की टीका में अनेक तांत्रिक शब्दों और प्रयोगों का स्पष्टीकरण बड़ी खूबी से किया है। इससे उनका इस विद्या में प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध होता है। तंत्रविद्या भारत में परम्परा से प्रचलित रही थी। 'विवृति' मे गुणाकर ने 'निघण्टु' (कोश, द्रव्यगुण) को तीन स्थलों पर उद्धृत किया है (श्लोक सं. 11, 34 एवं 43)।

ये गुजरात, विशेषतः सौराष्ट्र क्षेत्र के निवासी थे। टीका में मधुयष्टीका 'जेठीमधु', रसांजन का 'रसवत', स्नुहीका 'थोहरी', गोवत्सा का 'गोजीभी', अंगारिका' का 'कोइला' तथा भूनाग का 'अणसला' गुजराती पर्याय दिये हैं। एक स्थान (श्लोक 81) पर भूनाग के लिए लिखा है—'भूनागो वर्षाकालोद्भवो जीवविशेषः, सौराष्ट्रदेशभाषया अणसला इति प्रसिद्धः।'

इन्होंने 'आश्चर्यरत्नमाला' पर गुजराती में 'अमृतरत्नावली' नामक टीका लिखी थी। इसकी हस्तप्रति भांडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में मौजूद है (ग्रंथांक 174, 554/1892-95)। इसका रचनाकाल भी 1296 (1239 ई.) दिया गया है। यह टीका अधिक प्रसिद्ध नहीं हो सकी। इस टीका का अंतिम अंश देखिए—"अथादृशीकरण कृष्णधतूराने शनिवारें बंधन करीनूंह तरीये रविवारें सूर्योदयें लीजइं नग्नथईनें पछें ते धतूरकाष्ठ सात आदित्यवारपर्यन्त त्रिवटें चोवटानि भूमि मां डटीइं पछे सातमें रविवारें ति हाथीं लीमें लेईने कृष्णचौदसिनी मध्यनिशायें श्मशानना वह्निथी बालीने रक्षा कीजें पछें ते रक्षा प्रथमप्रसूता स्यांमा गायनी घीमध्ये मथीनें नेत्रांजन कीजें तो अदृश्यकरण पुरुष होयें सत्यमेव थाइं इणि प्रकारि नागार्जुनाचार्येण प्ररूपीता आश्चर्य-

---

[1] माधवनिदान' अ. 5 श्लो. 35 पर 'मधुकोष' में 'कुक्षेराटोपो 'गुडगुडाशब्द' इतिचक्रः, 'तनतनो' इति गुणाकर, 'रुजापूर्वकः क्षोभः' इति गदाधरः।'

[2] A. F. Hoernle, Studies in the Medicine of Ancient India, part I, Section I, Introduction.

योगमाला । एमध्यें महामंत्रविद्या-साधन तंत्रप्रयोग सर्व सत्यकरीनें लख्या छें। एवस्तु अगोप्य अगोचरथी राखवी कोईने देषाडवी नहीं। इति श्रेय ।'

गुणाकर को हेमचंद्रसूरि का प्रशिष्य कहा जाता है।[1] दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने विजयरक्षित द्वारा उद्धृत गुणाकर से योगरत्नमाला की विवृति लिखने वाले गुणाकर को भिन्न माना है। प्रथम गुणाकर वैद्य और आयुर्वेदज्ञ थे, जबकि द्वितीय गुणाकर तांत्रिक थे।[2] परन्तु यह विचार युक्तिसंगत नहींहै; 'विवृति' में गुणाकर ने आयुर्वेदीय वनस्पतियों और ओषधियों की गंभीरता और बारीकी से व्याख्या की है। अतः उनका आयुर्वेदज्ञ होना प्रमाणित होता है।

निश्चलकरने चक्रदत्त पर अपनी टीका में गुणाकरकृत 'चरकसंहिता-टीका' (वृत्ति) का उल्लेख किया है। यह 'वृत्ति' अब नहीं मिलती।

आशाधर (1240 ई.)

संस्कृत के जैनविद्वानों में आशाधर अग्रणी हैं। यह प्रतिभासंपन्न, विद्वान् और विपुल साहित्य के प्रणेता के रूप में जैन साहित्याकाश में जगमगाते नक्षत्र हैं। इनका काव्य, दर्शन, योग, साहित्य, व्याकरण, न्याय, अलंकार, वैद्यक आदि विषयों पर अधिकार था। इनको 'कलिकालिदास' नाम से जाना जाता है। इनके ग्रन्थों त्रिषष्टि-स्मृति, जिनयज्ञकल्प आदि) में इन्होंने अपना परिचय निम्न प्रशस्ति में दिया है –

श्रीमान स्त 'सपादलक्षविषयः' 'शाकम्भरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र 'विमलव्याघ्रेरवालान्वया–
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥1॥
सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनद्।
यः पुत्रः छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥2॥
व्याघ्रेरवालवंशसरोजहंसः काव्यामृतोघरसपानसुतृप्तगात्रः
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ॥3॥
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति–
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोः परिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजस।
प्राप्तो 'मालवमंडले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्यशास्त्रे महावीरतः ॥5॥

---

[1] प्रियव्रत शर्मा, आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ. 213

[2] D. C. Bhattacharya, New Light on Vaidyaka Literature, Indian Historical Quarterly, Vol. XXIII, No.I, March. 1947, PP.123-155.

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले ।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ।।8।।

इससे ज्ञात होता है कि आशाधर सपादलक्ष (सवालखा=मध्यराजस्थान) के शाकंभरी राज्य (चौहानों के राज्य) के अन्तर्गत 'मंडलकर दुर्ग' (मांडलगढ़, जिला भीलवाड़ा) के निवासी थे । जब गजनी के शासक मोहम्मद गौरी ने ई. 1193 में अजमेर प्रान्त पर अधिकार कर लिया तो मुसलमानों के अत्याचारों से रक्षा करने के लिए अनेक परिवारों के साथ आशाधर का परिवार भी वहां से धारा नगरी (मालवा) में आकर रहने लगा । ये व्याघ्रेरवाल (बघेरवाल) जाति के दिगम्बर जैन वैश्यश्रावक थे । इनके पिता का नाम सल्लक्षण माता का नाम रतनी, पत्नी का नाम सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड़ था । धारा में इन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। कुछ समय बाद धारा के पास बीस मील दूर 'नलकच्छपुर' (नालछा) में आकर बस गये और आजीवन वहीं रहे । आशाधर की रचनाओं में मालवा (धारा) के राजा विंध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा, देवपाल और जैतुगिदेव का उल्लेख मिलता है, जिनके द्वारा उन्हें सम्मान प्राप्त हुआ था ।

आशाधर जैनमुनि नहीं थे । गृहस्थ रहते हुए भी ये संसार से उपरत रहे । नाथूराम प्रेमी ने[1] इनका जन्मकाल सं 1.35 के लगभग सिद्ध किया है । इनकी सब रचनाएं सं. 1260 से 1300 के बीच की मिलती हैं । इनका उपलब्ध अन्तिम ग्रन्थ 'अनगार-धर्मामृतटीका' वि.सं 1300 का है ।

आशाधर के 20 से भी अधिक ग्रन्थ मिलते हैं, जो अधिकांश जैन सिद्धांत, धर्म, न्याय, व्याकरण पर हैं ।

इनके एक वैद्यक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है । वाग्भट के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टांगहृदय' पर आशाधर ने 'उद्योतिनी' या 'अष्टांगहृदयोद्योतिनी' नामक टीका संस्कृत में लिखी थी । यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है । स्वयं आशाधर ने अपनी एक अन्य ग्रन्थ-प्रशस्ति में लिखा है—

'आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम् ।
अष्टांगहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ।।19।।

पीटर्सन[1] ने अपनी सूची में आशाधर के ग्रन्थों में और आफ्रेक्ट ने अपने 'कैटेलॉगस केटेलोगोरम[2] में इस ग्रन्थ का उल्लेख तो किया है, परंतु किसी हस्तलिखित प्रति का संदर्भ नहीं दिया है । अष्टांगहृदय पर हेमाद्रि (लगभग 1260 ई.) के पूर्व आशाधर ने

---

[1] पीटर्सन, रिपोर्ट 3, एपेण्डिक्स, पृ. 330, और रिपोर्ट 4, पृ. 26
नाथूरामप्रेमी, जैनसाहित्य और इतिहास, पृ. 133

[2] Catalogus Catalogorum, Part I, P. 36

टीका लिखी थी। निश्चित ही यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रहा होगा। यदि इसकी कहीं कोई प्रति मिलजाय तो अष्टांगहृदय के व्याख्यासाहित्य में उससे महत्वपूर्ण वृद्धि होगी।

इस टीका का उल्लेख हरिशास्त्री पराड़कर[1] और पी. के. गोडे[2] ने भी किया है। यह टीका-ग्रन्थ लगभग वि.स. 1296 (ई. 1240) में लिखा गया था।[3]

हंसदेव (13वीं शती)

यह दक्षिण के जैन कवि (? यति) थे। इनका काल 13वीं शती माना जाता है। इन्होंने पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में विस्तार से 'मृग-पक्षिशास्त्र' की रचना की है। पं.वी. विजयराघवाचार्य, पुरातत्वज्ञ, तिरुपति (मद्रास) को इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी। इसे उन्होंने त्रावनकोर के महाराजा को भेंट किया। मूल ग्रन्थ अप्रकाशित है। सुन्दराचार्य ने 1925 में इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है।

इसमें पशु-पक्षियों के 36 वर्ग वर्णित हैं। प्रत्येक के क्रमश: रूप-रंग, भेद, स्वभाव, बाल्यावस्था संभोगकाल, गर्भधारण-काल, खान-पान, आयु और अन्य विशेषताएं विस्तार से कही गयी हैं। यह बताया गया है कि पशु-पक्षियों में सत्वगुण नहीं होता, केवल रजोगुण और तमोगुण ही होते हैं। इसी आधार पर उनके तीन भेद बताये गये हैं - उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम राजस गुण वाले पशु-पक्षी— सिंह, हाथी, घोड़ा गाय, बैल, हंस, सारस, कोयल, कबूतर आदि; मध्यम राजसगुणवाले पशु-पक्षी —चीता, बकरा, मृग, बाज आदि; अधमराजस गुणवाले पशुपक्षी रीछ, गेंडा, भैंस आदि हैं। इसी प्रकार उत्तम तामसगुणवाले-पशु-पक्षी—ऊंट, भेड़, कुत्ता, मुरगा आदि; मध्यम तामस गुणवाले सिद्ध, तीतर आदि तथा अधम तामस गुणवाले गधा, सूअर, बन्दर, गीदड़, बिल्ली, चूहा, कौआ आदि होते हैं। पशु-पक्षियों का यह वर्गीकरण बहुत रोचक और मौलिक है।

पशु-पक्षियों का आयुमान भी बताया गया है। हाथी की उम्र सबसे अधिक 100 वर्ष तथा खरगोश की सबसे कम $1\frac{1}{2}$ वर्ष होती है। गेंडा 22, ऊंट 30, घोडा 25, सिंह-भैंस-गाय-बैल आदि 20, चीता 6, गधा 12, बन्दर-कुत्ता-सूअर 10, बकरा9, हंस 7, मोर 6, कबूतर 3, चूहा और खरगोश $1\frac{1}{2}$ वर्ष आयु वाले होते हैं।

इसमें लगभग 225 पशु-पक्षियों का वर्णन है। ग्रन्थ के दो भाग हैं। पहले भाग में पशुओं का और दूसरे भाग में पक्षियों का वर्णन है। प्रत्येक किस्म के पशु या पक्षी के भेद और स्वरूपादिगत विशेषता भी बतायी है। जैसे सिंह के छः प्रकार बताये हैं —

---

[1] **हरिशास्त्री पराड़कर, अष्टांगहृदय, उपोद्‌घात (निर्णयसागर, बंबई), पृ. 26**

[2] **पी. के. गोडे, अष्टांगहृदय, (बंबई 1939), इंट्रोडक्शन, पृ. 6**

[3] **जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 228**

सिंह, मृगेन्द्र, पंचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि। 'सिंह' की गर्दन के बाल घने, सुनहरी होते हैं और गति बहुत तेज होती है। 'मृगेन्द्र' की आंखें सुनहरी, मूंछें बड़ी, शरीर पर कई तरह के चकत्ते होते हैं और गति धीमी–गंभीर होती है। 'पंचास्य' छलांग लगाकर चलता है, जीभ मुंह से बाहर लटकती रहती है, बहुत निद्रालु होता है। 'हर्यक्ष' प्रायः पसीने से तर रहता है। 'केसरी' लालरंग और धारियों से युक्त रहता है। 'हरि' शरीर में बहुत छोटा होता है।

पशुओं के पालन और संरक्षण की विधि व उपाय भी वर्णित हैं। गाय की रक्षा से पुण्य होना बताया है।

पक्षियों को चतुर और जंगल व घर का शृंगार बताया गया है। ये पशु व पक्षी मनुष्य के सहायक हैं। इनके द्वारा अंडों को फोडने के समय को ज्ञात करना अद्भुत है।

पक्षियों में हंस, चक्रवाक, सारस, गरुड़, कौआ, बगुला, तोता, मोर, कबूतर आदि के भेद व स्वरूप का सुन्दर वर्णन है। ऋषियों ने कहा है कि पक्षियों को प्रेम से नहीं पालने वाले व्यक्तियों को पृथ्वी पर नहीं रहना चाहिए।

अपने विषय का यह बेजोड़ ग्रन्थ है। इसमें पशु-पक्षियों का वर्गीकरण, भेद, स्वभाव, खान–पान, विशेषताएं आदि विषयों पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। यह 1700 अनुष्टुप छंदों में पूरा हुआ है।

ऐसा वर्णन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। लेखक का इस वर्णन से इन पशु–पक्षियों से निकट दीर्घकालीन सम्पर्क, निरीक्षण और सूझ-बूझ का परिचय मिलता है। पशु-पक्षियों के पालन के लाभ भी बताये गये हैं।

चम्पक (13वीं शती)

यह जैन विद्वान् था। इसके द्वारा विरचित 'रसाध्याय' नामक ग्रन्थ मिलता है।[1] यह अंचलगच्छीय गच्छनायक महेन्द्रप्रभसूरि का शिष्य था। ग्रन्थ के अन्त में अपना वंश-परिचय दिया है। इससे ज्ञात होता है कि 'यादववंश' के 'रावल मूंजालदेव' का पुत्र 'महिप' हुआ, उसका पुत्र 'भादिग' नामक हुआ। उसके दो पुत्र 'चम्पक' और 'मनागजाकोकिल' हुए। चम्पक ने इस ग्रन्थ की रचना की।

'ख्यातस्तथा यादववंशरत्न–मूंजालदेवाभिध राउलोऽभूत्।
तदात्मजन्मा महिपाभिधानस्तस्यात्मजो भादिगनामधेयः ॥79॥
तदात्मजश्चम्पकनामधेयो रसज्ञगेयोज्ज्वलकान्तिकीर्तिः।
परोपकारैकरसः कलावान् 'मनागजाकोकिल' यस्य बन्धू ॥80॥

---

[1] 'कंकालयरसाध्याय' पर मेरुतुंग जैनसाधु ने 1386 ई: में टीका लिखी है। (जौली, इण्डियन मेडिसिन, पृ. 5, एवं 13)

तथा च—'श्रीमानंचलगच्छनायकगुरुर्नाम्ना महेन्द्रप्रभ: ।
सूरीन्द्र: क्षितिमण्डले विजयते यो गेयकिर्ति: सदा ।।

इसके बाद ग्रन्थ खंडित है । इसके रचनाकाल और रचनास्थान आदि के बारे में कुछ पता नहीं ।

चम्पक रसविद्यानिपुण, उज्जल कीर्तिवान्, यशस्वी और नित्यपरोपकार में तल्लीन रहने वाला—ऐसा उसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'अर्हतों' (जिनों=तीर्थंङ्करों) को नमस्कार किया गया है । यह स्वतंत्र रचना न होकर ग्रंथकार के अनुसार 'कंकालाध्याय' का 'वार्तिक' है । लिखा है—

'सिद्धि: श्रीनामतो येषां भवेत्सर्वेप्सितं श्रियाम् ।
नत्वा तानर्हत: कुर्वे 'कंकालाध्यायवार्त्तिकम् ।।1 ।'

पुन: कहा है—'अथाऽध्यायं समायातं 'श्रीकंकालययोगिन: ।
वदामि व्यञ्जितो यत्र युक्तिभि: शृंखलारस: ।।12।।'

'रसाध्याय' में बताया है कि 'कंकाल' (कंकालय) योगी रसकर्म, गुटिका और ग्रंजनों का अच्छा ज्ञाता था । उसने अपने शिष्य को रसविद्या का मर्म समझाया था । कंकालय के शिष्य ने अपने और दूसरों के उपकार के लिए 21 अधिकारों (प्रकरणों) वाले 'रसाध्याय' ग्रंथ को बनाया ।

'रसगुट्यंजनाभिज्ञ: 'श्रीकंकालययोगभृत् ।
तेन स्वशिष्यशिक्षार्थं 'रसतत्वं' निवेदितम् ।।8।।
'श्रीकंकालयशिष्योऽपि' स्वान्योपकृतये कृतो ।
एकविंशत्यधीकारं 'रसाध्यायं' निबद्धवान् ।।9।।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि चम्पक' ने रसविद्या पर कंकालययोगी के शिष्य द्वारा रचित 'रसाध्याय' पर अपना 'वार्तिक' लिखा था । उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मैंने कुछ गुरुओं से सुनकर, कुछ रसमर्मज्ञों के सम्पर्क से और कुछ अपने अनुभव से इस ग्रंथ की विवेचना की है—

गुरुभ्य: किञ्चिदाकर्ण्य तज्ज्ञै: संसृज्य किंचन ।
किंचिदप्यनुभूयासौ ग्रंथो विव्रियते मया ।।2।।'

रस-क्रियाएं बहुत जटिल होती हैं । साक्षात् गुरु के कहने से ही धातुवाद सिद्ध नहीं होता जब तक दो तीन बार गुरु के पास उसकी क्रिया-विधि देखी नहीं जाय । इसलिए सुनकर, देखकर, धन खर्च कर, गुरु को किसी भी प्रकार प्रसन्नकर योगों की सिद्धि करनी चाहिए । बिना गुरु के धातुवाद में परिश्रम करना व्यर्थ है—

'प्रोक्तोऽपि गुरुणा साक्षाद् धातुवादो न सिद्ध्यति ।
यावन्न दृश्यते द्विस्त्रिगुरुपार्श्वे क्रियाविधि: ।।3।।

यस्मात्तस्मादपि श्रुत्वा यत्र कुत्रापि वीक्ष्य च ।
द्रव्यव्ययं प्रकुर्वन्तो मुधा ताम्यंति बालिशाः ॥[illegible]॥
प्रसन्नीभूय चेत्सर्वं दर्शयेत्कर्म सद्गुरुः ।
लीलयापि तदा सर्वे योगाः [illegible]यम् ॥ ॥
ततोऽत्र व्यक्तमुक्तेऽपि ग्रन्थार्थे मुख्यनिश्चयम् ।
गुरूनपेक्ष्य नो कार्यो धातुवादे परिश्रमः ॥6॥

किसी भी रसकर्म को प्रारम्भ करने से पूर्व एक मास तक ब्रह्मचर्य का पालन और हविष्यान्न का भोजन करना चाहिए । ब्रह्मचर्यरूपी तप के नष्ट हो जाने से क्रियाओं का फल नहीं मिलता—

'ब्रह्मचर्यं तपःकार्यं हविष्यान्नस्य भोजनम् ।
क्रियाभ्रष्टे न सिद्ध्यन्ति तपोनष्टे फलन्ति न ॥11॥'

'रसाध्याय' का 'वार्तिक' वस्तुतः मूल 'रसाध्याय' का अपने अधीत, दृष्ट एवं अनुभूत ज्ञान से संशोधित, विवेचित कर प्रस्तुत उपलब्ध रसाध्याय के रूप में प्रकट हुआ है। अतः मूल 'रसाध्याय' का पता नहीं चलता ।

इसमें 'रस' विषयक ज्ञान शृंखलाबद्ध–रूप में अभिव्यक्त किया गया है ('वदामि व्यञ्जितो यत्र युक्तिभिः शृंखलारसः। 12 जो इस प्रकार है—रस का शोधन, शोधित रस का मूर्च्छन–उत्थापन, फिर पातन, पुनः उत्थापन, स्वेदन, नियामन, निरोधन, वक्रप्रसारण, अभ्रकजारण, लोहजारण, अयःप्रकाशराजिजारण, हेमराजिजारण, गंधकजारण, मनःशिलासत्वजारण, खापरसत्वजारण, अन्नपथहीरकजारण, जीर्णवज्र (हीरे) का बंध, सारण, मारण, क्रामण, पुनः बंध और बंध का उद्घाटन । इस प्रकार क्रमशः रसकर्म किया जाता है ।

मेरुतुंग ने 'रसाध्याय' पर 1386 ई. में टीका लिखी थी । अतः यह इससे पहले की रचना है । संभवत 13वीं शती की । इसमें कुल 11 अध्याय (अधिकार) हैं—

1 पारद के अष्टादश संस्कार, 2 राजिस्वरूप हेमराजि, घोषराजि, माक्षिकराजि, नागराजि, 3 खापर सत्वपातनविधि, 4 मनःशिलासत्वपातनविधि, 5 षड्लोहद्रुतिकरणविधि, 6 षड्लोहमारणविधि, 7-8 हीरकभस्मविधि, 9 गन्धकशोधन, 10गन्धकपीठी, 11 गन्धकतैल, 12 हेमकर्म, 13 सहस्रवेधरसविधि 14 गन्धकद्रुतिपीठी, 15 गन्धकद्रुतिपीठीकर्म, 16 तालक का शोधन, एवं 17 तालक-कर्म, 18 अभ्रकद्रुति, 19 अभ्रकद्रुतिकर्म, 20 हेम–वज्र–भस्म, भूनागसत्वपातन और उनके कर्म, 21 बालवादिनीगुटिका।

इस ग्रन्थ में 'पारद के कर्म' 84 प्रकार के, गुटिकाओं के 84 प्रकार और 84 प्रकार के 'अंजन'; कुल 252 भेद बताये हैं । इनमें से किसी एक का साधन करने से पूर्व एवं फल की प्राप्ति के अंत में अखण्डित तप करना चाहिए । साधन करना प्रारंभ करने एक माह पूर्व से ब्रह्मचर्य, भूमि पर सोना, हविष्यान्न (दूध–भात या खीर) का

भोजन करना चाहिए। साधन–काल में भी इनका पालन करे। रसादि तप:साध्य हैं, और तपोविधियों से ये सिद्ध होते हैं। तपोहीन साधक फिर भाग्य को दोष देते हैं। (श्लोक 358–362)।

कंकालययोगी के उक्त 252 प्रकार के योग सिद्ध थे। यहां कंकालययोगी की गुटिकाओं में से केवल एक 'ज्ञानफला गुटिका' का निर्माण प्रकार बताया है, इसके धारण करने से त्रिकाल ज्ञान उत्पन्न होता है –

'वार्तोक्ता गुटिकास्तेन श्रीकंकालययोगिना।
गुटिं ज्ञानफलां वक्ष्ये द्विपंचाशत्सुवल्लिका ।।363।।'

फल देखें— अहर्निशं मुखे धार्या मासमेकं निरंतरम्।
मासे बीते च सा पृष्टा ज्ञानं वक्ति त्रिकालजम् ।।376।।

इस वटी का प्रभाव अत्यंत आश्चर्यकारक है—'गुटिकाया: प्रभावोऽयमतीवाश्चर्यकारक:।'

इस ग्रन्थ में कुल 380 पद्य हैं। यह ग्रंथ आचार्य यादवजी से हस्तलिखित प्राप्त कर पं. रामकृष्ण शर्माकृत संस्कृत टीका सहित 'काशीसंस्कृत सीरिज' में चौखम्बा, बनारस से सं. 1986 में प्रकाशत हो चुका है।

यश:कीर्ति मुनि (13वीं शती)

यश:कीर्ति मुनि के संबंध में काल, स्थान, ग्रन्थों आदि का विशेष परिचय नहीं मिलता। इनके द्वारा विरचित एक वैद्यक ग्रन्थ 'जगत्सुन्दरीप्रयोगमणिमाला' की प्राचीन हस्तलिखित प्रति 'योनिप्राभृत' के साथ मिली हुई भांडारकर ओ. रि. इन्स्टीट्यूट पूना मे विद्यमान है। इस प्रति का लिपिकाल वि. सं. 1582 (1525 ई.) है, अत: इसका रचनाकाल निश्चित ही पूर्व का होना सिद्ध होता है।

'जगत्सुंदरीप्रयोगमणिमाला' ग्रन्थ प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध है। मध्य में कहीं-कहीं संस्कृत गद्य का और कुछ स्थानों पर प्राचीन अपभ्रंश या हिन्दी का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थारम्भ में रचनाकार यश:कीर्ति का नामोल्लेख हुआ है—

'जसइत्तिणाममुणिणा भणियं णाऊण कलिसरूवं च।
वाहिगाहिउ त्ति हु भव्वो जह मिच्छतेण संगिलइ ।।13।।'

इस ग्रन्थ में 43 अधिकार हैं और लगभग 1500 गाथाएं हैं। परिभाषाप्रकरण, ज्वराधिकार, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, अतिसार, ग्रहणी, पाण्डु रक्तपित्त आदि रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। अंत में 15 यंत्र दिए हैं—1 विद्याधरवापीयंत्र, 2 विद्याधरीयंत्र, 3 वायुयंत्र, 4 गगायंत्र, 5 एरावणयंत्र, 6 भेरुंडयंत्र, 7 राजाभ्युदययंत्र, 8 गतप्रत्यागतयंत्र, 9 बाणगंगायंत्र, 10 जलदुर्गभयानकयंत्र, 11 उरयागसे पक्खि. भ महायंत्र, 12 हंसश्रवायंत्र, 13 विद्याधरीनृत्ययंत्र, 14 मेघनादभ्रमणवर्तयंत्र, 15 पाण्डवामलीयंत्र।

रोगों के नाशन हेतु मंत्र–प्रयोग दिए हैं। दुष्टव्रण, लूताविष, जालगर्दभ, गंडमाला विद्रधि और विस्फोटकों के लिए मंत्र देखिए—

"ॐ नमो भगवते पार्श्वरुद्राय चंद्रहासेन खड्गेन गर्दभस्य सिरं छिन्दय छिन्दय, दुष्टव्रणं हन हन, लूतां हन हन जालागर्दभं हन हन, गण्डमालां हन हन, विद्रधिं हन हन, विस्फोटकसर्वान् हन हन फट् स्वाहा।"

यह ग्रन्थ धूलिया से एस. के. कोटेचा ने प्रकाशित किया है। इसमें अशुद्धियां अधिक रह गयी हैं।

हरिपाल (1284 ई.)

इनके विषय में विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। इनका 'वैद्यकशास्त्र' नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है।[1] यह ग्रन्थ 'प्राकृतभाषा' में पद्य (गाथा) बद्ध है। इसमें लेखक ने गुरु-परम्परा या वंश–परिचय आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है। ग्रंथ के अन्त में इसका रचनाकाल वि. सं. 1341 (1284 ई.) दिया है। अत: इनका समय 13वीं शती का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है। इस ग्रन्थ में शिरोरोग आदि रोगों पर चिकित्सा—रोगनाशक औषधियोग दिए गए हैं। कुल 256 पद्य हैं।

ग्रंथारंभ में जिनों–तीर्थंकरों के लिए नमस्कार–वचन दिया है—

> 'णमिऊण जिणो विज्जो भवमणेत्राहिफेट्टणसमत्थो।
> पुण विज्जयं पयासमि जं भणियं पुव्वसूरीहिं ॥1॥
> गाहाबंधे विरयमि देहिणं रोय–णासणं परमं।
> 'हरिवालो' जं वुल्लइ तं सिज्झइ गुरुपसाएण ॥2॥

ग्रन्थांत में बताया है कि इससे पूर्व हरिपाल ने 'योगसार' की रचना की थी। यह ग्रंथ अप्राप्त है।

> 'हरडइ वांति समंजलि तेण सुणीरेण पक्खालिज्जा।
> लिंगे वाहि पसामइ भासिज्जइ 'जोयसारेहिं ॥255॥
>
> 'हरिवालेण' य रइयं पुव्वविज्जेहिं जं ज्जि णिद्दिट्ठं।
> बुहयण तं महु खमियहु हीणहिये जं जि कव्वो य ॥256॥
>
> विक्कम–णरवइ–काले तेरसयागयाइं एयाल्ले (1341)।
> सिय–पोसट्ठमि मंदे 'विज्जयसत्थो' य पुण्णो य ॥
> इति परा (प्रा) कृत वैद्यक (शास्त्र) समाप्तम्।'

प्राकृत की वैद्यक कृति होने के कारण इस ग्रंथ का बहुत महत्व है।

---

[1] जुगलकिशोर मुख्तार, जैन-ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह, भाग 1, (दिल्ली, 1954) पृ. 221

मेरुतुंग (ई. 1386)

यह जैन साधु थे। इन्होंने सन् 1386 में एक प्राचीन रसग्रन्थ 'कंकालय रसाध्याय' पर टीका लिखी है।[1]

'कंकालयरसाध्याय' की रचना 'चंपक' नामक जैन विद्वान् ने की है, जो अंचलगच्छीय 'महेन्द्रप्रभ' का शिष्य था। यह ग्रंथ काशी संस्कृत सीरिज बनारस से छप चुका है।

संभवत: इस ग्रन्थ को गोंडल के इतिहास में 'रसायनप्रकरण' कहा गया है और इसका रचनाकाल सन् 1387 बताया गया है।

रसविद्या पर निश्चित तिथि वाला यही ग्रन्थ है। 1386 में मेरुतुंग ने टीका लिखी है।[2] अत: मूलग्रन्थ का रचनाकाल इससे पूर्व का प्रमाणित होता है।

मेरुतुंग ने सं. 1409 (1352 ई.) में 'कामदेवचरित' और सं. 1413 (1356 ई.) में 'संभवनाथचरित' की रचना की है।[3]

सिंह (1471 ई.)

'सिंह' रणथंभोर के शासक 'अलाउद्दीन खिलजी' द्वारा, वहां मुख्यसचिव (मंत्री) पद पर नियुक्त पोरवाड जातीय श्रेष्ठी 'धनराज' का पुत्र था। प्रसिद्ध मुस्लिम शासक अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल 1296 से 1316 ई. है, अत: यह उसका समकालीन नहीं हो सकता। संभव है, मालवा के खिलजी वंश का यह कोई सुलतान हो, जो रणथंभोर में नियुक्त हो। सिंह द्वारा विरचित वैद्यकग्रंथ की हस्तप्रति के अन्तिम दो पत्र अगरचंद नाहटा को प्राप्त हुए थे।[4] इनमें 1099 से 1123 तक श्लोक लिखे हैं। अन्तिम चार पद्यों में ग्रंथकार ने प्रशस्ति दी है। प्रशस्ति में इस वैद्यककृति का नाम 'निबन्ध' बताया गया है—

'यावन्मेरौ कनकं तिष्ठतु तावन्निबन्धोऽयम्।।1123।।

---

[1] Catalogus Catalogorurm, Part 2, P. 15

[2] 'The Oldest and definitely datable work of this kind (on Rasashastra) appears till now to be the commentary by Merutunga, a Jain, written in 1386 on Kankaliya Rasadhyaya which must naturally be older than the commentary'

J. Jolly, Indian Medicine, P. 5

[3] मोहनलाल दलीचंद देसाई. जैन साहित्यनो इतिहास (प्र.सं., गुजराती), पृ. 438

[4] देखें, जैनसत्यप्रकाश, वर्ष 19, पृ. 11

उपलब्ध प्रति का लेखनकाल 17वीं शती है। ग्रन्थकार ने प्रशस्ति में अपना उपर्युक्त वंश–परिचय दिया है—

'खलचिकुलमहीपश्रीमदल्लावदीन प्रबलभुजरक्षे श्रीरणस्तम्भदुर्गे।
सकलसचिवमुख्य 'श्रीधनेशस्य' सूनुः समकुरुत 'निबन्धं' सिंहनामा प्रभुर्यः॥1121॥'

धनराज और उसके दोनों पुत्र सिंह और श्रीपति का उल्लेख कृष्णर्षिगच्छीय आचार्य जयसिंहसूरि द्वारा लिखित 'प्रबोधमाला' की प्रशस्ति में भी मिलता है। यह ग्रंथ मंत्री धनराज के लिए लिखा गया था। इसमें उसके दोनों को पुत्रों को कुलदीपक राजमान्य, दानी, गुणी और संघनायक बताया गया है।[1]

इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. 1528 (शक सं. 1393, ई. 1471) मार्गशीर्ष कृष्णा 5 दिया है—

'वसु–कर–शर–चन्द्रे (1528) वत्सरे राम-नन्द-
ज्वलन शशि (1393) मिते च श्रीशके मासि मार्गे।
असितदलतिथौ वा पञ्चमी.................केऽर्के
गुरुमशुभदिनेऽसौ.................... ....॥1122॥'

इसकी पूर्ण प्रति अनुपलब्ध है।

अनन्तदेव सूरि (14वीं–15वीं शती)

इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। इनके द्वारा रचित 'रसचिन्तामणि' नामक रसशास्त्र संबंधी ग्रन्थ मिलता है। यह लगभग 900 श्लोकों में पूरा हुआ है। टोडरानंद के 'आयुर्वेदसौख्य' में इसको उद्धृत किया है। अतः इसका रचनाकाल 16वीं शती से पूर्व का है, संभवत 14वीं–15वीं शती का।

इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां भांडारकर इन्स्टीट्यूट, पूना ग्रन्थांक 192, 193) में सुरक्षित हैं।

यह ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है। मुरलीधरकृत हिन्दी अनुवाद के साथ जीवराम कलिदास ने बम्बई से 1911 ई. में छपाया था। हिन्दी टीका सहित वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं. 1967 में छपा था।

नागदेव या ठक्कुर जिनदेव (14वीं-15वीं शती के लगभग)

इनका लिखा हुआ मदनपराजय' नामक ग्रन्थ मिलता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में

---

[1] धरमिणि-वाङ्नाम्ना स्त्रीयुगलं मन्त्रिधनराजस्य।
प्रथमोदरजो 'सीहा-श्रीपति-पुत्रौ च विख्यातौ॥10॥
कुलदीपकौ द्वावपि राजमान्यौ सुदातृतालक्षणलक्षितशयौ।
गुणाकरौ द्वावपि संघनायकौ धनाङ्गजौ भुवलयेन नन्दताम्॥11॥

इन्होंने वंशपरिचय इस प्रकार दिया है— चंगदेव का पुत्र हरदेव, हरदेव का नागदेव, नागदेव के दो पुत्र हुए—हेम और राम। ये दोनों ही अच्छे 'वैद्य' थे। राम का पुत्र प्रियंकर, प्रियंकर का मल्लुगित और मल्लुगित का नागदेव हुआ। इसी नागदेव ने 'मदनपराजय' की रचना की है। हरदेव ने पहले 'मदनपराजय' की रचना अपभ्रंश के पद्धडिया और रड्ढा छंदों में की थी। उसी का संस्कृत अनुवाद कुछ संशोधन-परिवर्धन पूर्वक अनेक छंदों में नागदेव ने किया।

इस वंश के 'नागदेव' और उसके 'दोनोंपुत्रों' (हेम और राम) को विद्वान् भिषक् (चिकित्सक) बताया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में 'इति श्रीठक्कुर माइन्दसुत-जिनदेवविरचिते स्मरपराजये' ऐसी पुष्पिका मिलती है। इससे ग्रन्थकार का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता।

यह खंड–रूपक काव्य है। ग्रन्थ की कथावस्तु इस प्रकार है। राजा कामदेव, मोह मंत्री और अहंकार, अज्ञान आदि सेनापतियों के साथ भावनगर में राज्य करते हैं। चारित्रपुर के राजा जिनराज उनके शत्रु हैं, जो मुक्तिरूपी कन्या से पाणिग्रहण करना चाहते हैं। कामदेव ने राग–द्वेष नामक दूतों के साथ राजा जिनराज के पास संदेश भेजा कि या तो वे मुक्तिरूपी कन्या से विवाह का विचार त्याग दें और अपने सुभट प्रधान दर्शन, ज्ञान, चारित्र को मुझे सौंपदें, वरना युद्ध के लिए तैयार हो जायें। जिनराज से कामदेव का युद्ध होता है और कामदेव को पराजित होना पड़ता है।

इस ग्रन्थ की सं. 1573 की हस्तप्रति मौजूद है, अतः इसका रचनाकाल 14वीं–15वीं शती होना चाहिए।[1]

माणिक्यचंद्र जैन (14–15वीं शती)

इनके द्वारा रचित 'रसावतार' नामक रससंबंधी ग्रंथ मिलता है। इसकी हस्तलिखित प्रति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के पास है। भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना के ग्रन्थागार में ग्रन्थांक 37१ (1882–83) पर 'रसावतार' ग्रन्थ मौजूद है। यह प्रति देवनागरी में है, कहीं-कहीं पृष्ठमात्राएं भी अंकित हैं। अतः इस प्रति का काल बहुत प्राचीन है, संभवतः 14–15वीं शती होना चाहिए। ग्रन्थ में 108 पत्र हैं। अतः विस्तृत रचना है। इसमें लेखक का नाम नहीं दिया है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर के राजेन्द्रलाल मित्रा के केटलॉग में ग्रन्थांक 1431 पर भी 'रसावतार' का उल्लेख है। मुगल बादशाह शाहजहां के काल में हुए कवीन्द्राचार्य (17वीं शती पूर्वार्ध) की सूची में भी 'रसावतार' का उल्लेख है। टोडरानन्द (आयुर्वेद सौख्य) (काल 16वीं शती) में भी 'रसावतार' को उद्धृत किया गया है। अतः रसावतार का रचना काल 14वीं 15वीं शती प्रमाणित होता है।

---

[1] जैन ग्रन्थप्रशस्ति संग्रह, भाग 1, पृ. 37, 76।

चारुचन्द्रसूरि रुद्रपल्लीय (15वीं शती)

इनका काल बि. 15वीं शती है।

इनका लिखा 'वातशितम्' नामक वैद्यक ग्रन्थ बताया जाता है। इसका उल्लेख 'पुरातत्त्व' वर्ष 2, पृ. 418 पर हुआ है।

श्रीकण्ठसूरि (16वीं शती)

यह जैन आचार्य थे। इनका 'हितोपदेश' या 'वैद्यकसारसंग्रह' ग्रन्थ है। यह वकटेश्वर प्रेस, बंबई से छप चुका है। ग्रन्थ के प्रारंभ में नाभिराज के पुत्र ऋषभदेव का स्मरण किया गया है। रोगी लोगों के हित के लिए इस ग्रन्थ का उपदेश किया गया है अत: इसे 'हितोपदेश' नाम दिया है "हिताय रुग्भि: परिपड़ितानां हितोपदेशं कथयामि कञ्चिद्।" इसमें 10 समुद्देशों में समस्तरोगों की चिकित्सा का वर्णन है। कुष्ठ रोग में सूर्य की स्तुति दी है। शीतला की चिकित्सा (8/47–49) का भी उल्लेख है। छोटी माता रोग का उल्लेख 'गोवर' 8/46) नाम से हुआ है। वृद्धिरोग को 'कुरण्ड' कहा गया है (7/1-15)। गृध्रसीवात को 'रिंगिणीवात' (7/85) नाम दिया है। स्नायुक को 'बालो' (7।87) इत्यादि प्रादेशिक रोगनामों का उल्लेख है। चिकित्सा प्रयोग उपयोगी एवं व्यवहारिक है। श्रीकण्ठसूरि (पण्डित का काल 16वीं शती है। हितोपदेश के प्रत्येक उद्देश्य के अन्त में लिखा है—

"इति श्रीपरमजैनाचार्यश्रीकण्ठसूरिविरचिते
हितोपदेशे वैद्यकसारसंग्रहे.....................समुद्देश।"

श्रीकण्ठशंभु नामक परमशैवाचार्य की 'वैद्यकसारसंग्रह' कोई भिन्न कृति है।

पूर्णसेन (16वीं शती)

यह जैन विद्वान् था। इसने 'वररुचि' कृत 'योगशतक' पर संस्कृत–टीका लिखी थी। टीका के प्रारम्भ में वर्धमान और समंतभद्र को नमस्कार किया है—

"श्रीवर्द्धमानं प्रणिपत्य 'सामंतभद्राय' जनाय हेतो:।
श्रीपूर्णसेनै:' सुखबोधनार्थं प्रारभ्यते योगशतस्य टीका ।।1।।

अथ जीवा अनादिनिधनास्तेषां जीवानामाहारवातशीतातपवर्षाविषमासननिद्रादिभिर्व्याधय उत्पद्यंते, तेषां व्याधीनां प्रकारा ये पुरा 'सर्वज्ञभाषिता' स्तेभ्यो वैद्यशास्त्रस्य सारं गृहीत्वा 'योगशतं' कर्तुकामो 'वररुचि:' शास्त्रादौ प्रतिज्ञां करोति।"

'सर्वज्ञभाषिता:' से तात्पर्य है 'आदिनाथ ऋषभदेव द्वारा कथित'। जैन परम्परा में रोगों सम्बन्धी ज्ञान ऋषभदेव से सर्वप्रथम अपने समवसरण में दिया था, ऐसा माना जाता है। इस टीकारंभ से वररुचि का भी जैन होना प्रमाणित होता है। वररुचि का काल अज्ञात है।

इसकी हस्तप्रति भांडारकर ओ. रि. इं. पूना में विद्यमान हैं (ग्रंथांक 185,

1073/1886-92) परन्तु एक अन्य हस्तप्रति में 'श्रीवर्द्धमानं प्रणिपत्य मूर्द्धा' के स्थान पर 'श्रीचन्द्रमौलिं प्रणिपत्य मूर्ध्ना' ऐसा पाठ है, (वही, ग्रंथांक 184, 934/1884-87), यह लिपिकार प्रमाद के कारण हुआ है।

अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में भी इस टीका की हस्तप्रति मौजूद है।

पं. जिनदास (1551 ई.)

यह वैद्यकशास्त्र में निपुण जैन श्रावक थे। इनका 'होलीरेणुकाचरित्र' नामक ग्रन्थ मिलता है। यह रणस्तंभदुर्ग (रणथभोर) के समीप नवलक्षपुर के निवासी थे। शेरपुर के जैन चैत्यालय में संवत् 1608 ज्येष्ठ शुक्ला 10 शुक्रवार को जिनदास ने 51 पद्यों वाली पूर्वकथा को 843 पद्यों में लिखकर पूर्ण किया। पं. जिनदास ने यह ग्रन्थ भट्टारक प्रभाचंद्र के शिष्य धर्मचन्द्र के शिष्य ललितकीर्ति मुनि के नाम से अंकित किया है। संभवतः मुनि ललितकीर्ति इनके गुरु थे।

ग्रन्थ के अन्तभाग में पं. जिनदास ने अपनी वंश-प्रशस्ति दी है। इनके पूर्वज 'हरिपति' नामक वणिक् हुए जिन्हें पद्मावती देवी का वर प्राप्त था और वह 'पीरोजशाह' द्वारा सम्मानित थे। इनके वंश में 'पद्म' नामक श्रेष्ठी हुए। इनको 'ग्यासशाह' से बहुमान्यता प्राप्त हुई थी इन्होंने 'शाकंभरी' (राजस्थान) नगर में विशाल जिनमंदिर बनवाया था। उनका एक पुत्र 'बिंझ' हुआ, वह 'वैद्यराट्' था। उसे 'नसीरशाह' से उत्कर्ष (सम्मान) प्राप्त हुआ था। दूसरा पुत्र 'सुहृजन' भट्टारक जिनचंद्र के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुआ और उसका नाम 'प्रभाचंद्र' रखा गया। उसे राजाओं से सम्मान मिला। 'बिंझ' का पुत्र 'धर्मदास' हुआ, उसे 'महमूदशाह' ने सम्मान प्रदान किया। वह वैद्यशिरोमणि और कीर्तिवान् हुआ। उसे भी पद्मावती का वरदान प्राप्त था। उसका पुत्र 'रेखा' नामक हुआ, जो वैद्य-कला में निपुण, वैद्यों का स्वामी और लोक में प्रसिद्ध था। उसे 'रणस्तंभ दुर्ग' (रणथम्भोर) में बादशाह शेरशाह' ने सम्मानित किया था। उनका पुत्र 'जिनदास' हुआ। बुद्धिमान् और अनेक विद्याओं में, विशेषकर आयुर्वेद में निपुण था। जिनदास की माता का नाम 'रिखश्री', पत्नी का नाम 'जिनदासी' और पुत्र का नाम 'नारायणदास' था।[1]

जिनदास वंश-परम्परा से वैद्यकविद्या में निपुण और कुशल चिकित्सक था। उनके किसी वैद्यकग्रन्थ का पता नहीं चलता।

> 'विद्यते ह्य तयोः पुत्रो 'जिनदासाभिधो' वरः।
> बुधः सज्जनमर्यादा माननीयो मनीषिणां ॥52॥
> अधीतो बहुविद्यासु आयुर्वेदे विशेषतः।
> अपि योऽस्ति महाधीमान् वरिष्ठो हि विवेकिनां ॥53॥ (हो. रे. च.)

---

1 जैनग्रंथ-प्रशस्तिसंग्रह, भाग 1, पृ. 32 एवं 63 से 67

नयनसुख (1592 ई.)

इन्होंने अपना परिचय इन शब्दों में दिया है—

'केसराज सुत नयनसुख, श्रावक कुलहि निवास।' (5, ग्रन्थारम्भ)

इससे इनका केसराज का पुत्र होना और श्रावक कुल में जन्म लेना प्रकट होता है। कुछ हस्तप्रतियों में 'केसराज' के स्थान पर 'केशवराज' नाम मिलता है। वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई की मुद्रित प्रति में 'श्रावककुलहि निवास' के स्थान पर 'भाषा कियो विलास' ऐसा उल्लेख है। परन्तु मेरी देखी हुई सब हस्तलिखित प्रतियों में प्रथमपाठ ही लिखा मिलता है। अत: इनका जैन श्रावक होना प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त विशेष परिचय ज्ञात नहीं होता।

इनका एकमात्र वैद्यक ग्रन्थ 'वैद्यमनोत्सव' मिलता है।[1] यह हिन्दी में छन्दोबद्ध लघुकृति है। इसकी रचना मुगल–सम्राट अकबर के शासनकाल में 'सीहनंद' (सीनंद) या सिहचंद नगर में संवत् 1649 (1592 ई.) चैत्र शुक्ला-2 गुरुवार को पुष्यनक्षत्र में पूर्ण हुई थी—

"केसराज सुत नयनसुख कीयऊ ग्रन्थ अमृतकंद।
सुभनगर सीहनंद मईं, अकबर साह नरिंद ।।307।।"
अंक 9 वेद 4 रस 6 मेदनी। (1649) शुक्ल पक्ष चैत्रमास।
तिथि द्वितीया भृगुवार फुनि, पुष्यचंद्र सुप्रकास ।।308।।

यह ग्रन्थ किसी पूर्वनिर्मित ग्रन्थ का अनुवाद मात्र नहीं है। अपितु स्वतंत्र रूप से हिन्दी में लिखा गया है। मौलिक कृति होने से इसका बहुत महत्व है। मंगलाचरण में गणेश और अलख के प्रति नमस्कार किया गया है। लेखक ने अनेक वैद्यक ग्रन्थों का परिशीलन किया था। अल्प बुद्धिवालों के लिए औषध और रोगनिदान पर यह सुगम-चिकित्सा रूप संक्षिप्त ग्रन्थ लिखा है।

'वद्यग्रन्थ सब मत्थिकै रचिऊ सुभाषा आनि।
अरथ दिखावूं प्रगट करि, औषध रोगनिदान ।।' (3, ग्रन्थारंभ)

ग्रंथ का नामकरण 'वैद्यमनोत्सव' सार्थक है—

'वैद्यमनोत्सव नामधरि, देखी ग्रन्थ सुप्रकास।' (5, ग्रंथारंभ)

इस छोटे से ग्रन्थ में 7 समुद्देश और 321 पद्य हैं। संक्षेप में नाड़ी परीक्षा, वातपित्त–कफ के निदान–लक्षण–उपचार–साध्यासाध्यता के लक्षण बताकर रोगानुसार ज्वरादिरोगों के निदान और चिकित्सा का वर्णन है।

इसमें विजया, अफीम, धतूरा और जस्ता का उपयोग मिलता है।

इसकी अनेक हस्तप्रतियां मिलती हैं। ~~कुछ में 332~~ गाथाएं हैं। एक प्रति 167

---

[1] यह प्रकाशित है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं. 1961 में छपा है।

गाथाओं वाली है, जिसमें प्रारंभ और अन्त के रचनादि के सम्बन्ध में परिचय ज्ञापक पद्य नहीं मिलते। अन्त में केवल 'इतिवैद्यमनोत्सवे' लिखा मिलता है।

वैद्यमनोत्सव की रचना दोहा, सोरठा और चौपाई छंदों में हुई है।

नर्बुदाचार्य-नर्मदाचार्य (ई. 1600)

यह गुजरात के निवासी थे। तपागच्छीय साधु कनक के शिष्य थे। तपागच्छ में 'कमल-कलश' शाखा के प्रवर्तक आचार्य कमलकलशसूरि हुए।

'श्री तपगछमांहि जशवंत, कमल कलश शाखा बोलंत,
गछनायक श्री पूज्य प्रमाण, जाणें गगन उदंता भाण ॥67॥
धर्म धुरंधर श्री गुरु नाम, 'कमलकलश' शिष्य अभिराम।
महागुणवंत महा गंभीर, पंचमहाव्रत यति सुधीर ॥68॥

(कोकशास्त्र चतुष्पदी, अन्त के पद्य)

'लघु पोशालिक तपगच्छ-पट्टावली' से ज्ञात होता है कि साधु सुमतिसूरि ने अपने दो शिष्य-इंद्रनंदी और कमलकलश को आचार्य पद दिया था। परन्तु बाद में उनको सूरिमंत्र के अधिष्ठापक देव ने कहा कि इन दोनों को आचार्य पद देना उचित नहीं है, क्योंकि ये गच्छ में भेद करेंगे। इससे सुमतिसूरि ने हेमविमलसूरि को नया आचार्य बनाया। सुमतिसूरि के स्वर्गवासी होने के बाद उन दोनों ने अपने अपने नाम से शाखाएं चलायीं। इन्द्रनंदी की शाखा वाले 'कुतबपुरा' और कमलकलश की शाखावाले उन्हीं के नाम से 'कमलकलश' कहलाये। प्राग्वाट जाति (पोरवाड) सहसा ने अचलगढ़ (आबूपर्वत) पर महाराज जगमाल के राज्य में चतुर्मुख विहार का निर्माण किया था, उसकी प्रतिष्ठा कमलकलशसूरि के शिष्य जयकल्याणसूरि ने सं. 156` फाल्गुन सुदी 10 को की थी। बीजापुर (जि. मेहसाणा) विद्याशाला की एक पट्टावली में बताया है कि कमलकलश शाखा सं. 1572 में निकली थी।[1]

कमलकलश के शिष्य 'पंडित मतिलावण्य' और अन्य अनेक शिष्य हुए। उन्हीं में से 'कनक' नामक शिष्य के 'नर्बुदाचार्य' शिष्य हुए। ये भट्टारकयति थे। इन्होंने अपने गुरु के विषय में लिखा है—

गछमांहि गुणवंत गंभीर, यतिव्रत 'कनक' नमैं धीर।
अेहवा गुरु भटारक जेह, कहुउपमा सवाई तेह॥
शिष्य नरबुदनैं करुण कवी, दीधो पद तैं उतम धरी॥

(कोकशास्त्र चतुष्पदी, ग्रंथांत, पद्य 72)

'कोकशास्त्र चतुष्पदी' ग्रंथ के अन्त में लेखक ने अपना परिचय दिया है। इनका

---

1. मोहनलाल दलीचंद देसाई, जैन गुर्जर कविओ, भाग 1, (19:9 ई.) पृ. 326

जन्म गुजरात के अहमदाबाद नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम 'देवराज' और माता का नाम राजुलदे था। पिता श्रीमाली महेता थे, जिनको वहां के महमद सुलतान ने सम्मान दिया था। कर्मसंयोग से इनको मारवाड (मारूदेश) के सिरोही नगर में आकर रहना पड़ा और वे वहीं बस गये। नरबुद ने बाल्यावस्था में उम्र के 9वें वर्ष गुरु (कनक) के पास दीक्षा ले ली थी। भवबंधन छोड़ दिये। तेरहवें वर्ष में इन पर मातंगी ने प्रसन्न होकर वरदान दिया।

'देई दीक्षा ने दीधो मंत्र, श्री सरस्वती बांध्यो तंत्र।
दाणा दिवस में सेवा करी, श्री सारद करुणा आदरी ॥73॥
वर्षे तेर मैं आव्यो मान मातंगी दीधो वरदान।
श्री गुरुचरण पसाई करी, कविजन मति नरबद आचरी ॥74॥ (वही, ग्रंथांत)

गुरु की अनुज्ञा लेकर इन्होंने दक्षिण देश की ओर कौतुक से विहारकर्म किया। चलते चलते ये संयोगवंश खानदेश (महाराष्ट्र) में 'बुरहानपुर' आये। वहां पास ही 'असीरगढ़' नामक दुर्ग है। वहां फारक जाति के 'मीरां दलशाह'के पुत्र 'मीरां बहादुरशाह थारकी' का शासन था।

दक्षणदेश प्रति कीयो विचार, कौतुकयी आ देश अपार।
अनेक बोधत्रीया जीवनै कवि मंदगति पामि देशनै ॥76॥
देवयोग चालतां सही, 'खानदेश मैं आव्या वही।
गढ़ 'आसेर' तिहां अभिराम, 'बरहापुर' नगरनो नाम ॥77॥
राज बलवंत सुजाण, वेरीना भाजै भड ठाण।
सदा अभंग तरवारह तेज, जाति 'फारक' कलाविवेक ॥78॥
'मीरांह दलसाह' सुजाण, तास पूत्र बलवंत बखाण।
मीरां बहादुरसाह थारकी', कीरत छणी न जायु लखी ॥79॥

वहां (बुरहानपुर में) रहते हुए आचार्य नरबुद ने वि. संवत् 1656 शक संवत् (152 · 1600 ई.) विजयादशमी बुधवार को 'कोकशास्त्र चतुष्पदी' नामक ग्रन्थ की रचना पूर्ण की थी। उस दिन शुभ मुहूर्त—वेला और ग्रह नक्षत्रों के उत्तम लक्षण थे—

'संवत 'सोल छपने सार', शक 'पनर एकवीस मभारि।
धतू अयम दक्षिणदिश रवि, शरदशपति माहि बाल कवि ॥80॥

आसु अधिक महोछव मास, पक्ष अजू आलें शशि प्रकाश।
'विजया दशमी' मन आणंद, 'वासर बुध' सुख परमाणंद ॥81॥

उत्तरा आषाढ़ नक्षत्र सुविचार, श्री 'नरबुद' बोलैं कविराज।
कर्कराशि गुरु ग्रह भोगवै, तुले शनि आवण चीतवै ॥82॥

शुभ मुहरत शुभ वेला सार, उत्तम लक्षण तणो बिचार।
श्री 'नरबुद' बोलैं 'कबिराज', कवी चोपई संपूरण आज ॥83॥

नरबुद ने अपने को 'कविराज' भी कहा है। यह ग्रन्थ कामशास्त्र विषयक है। कोकदेव द्वारा विरचित 'कोकशास्त्र' के आधार पर लिखा गया है। यह चौपाई छंद में लिखा गया है।

'कोक' तणो मद लेई करी, चाल चोपाई कवि उचरी।
'बुरहांनपुर' नगरमां थई, नामे चोपाई ॥86॥

इसमें 'दस' प्रकार (प्रकरण) हैं। स्त्रियों के प्रति लुब्ध व्यक्तियों के लिए सुख प्राप्ति हेतु यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है—

'दश प्रकार संपूरण हुआ, विगत करि कथा जूजूआ।
श्रीमातंगी ने वरदान, करी चोपई अमृत समान ॥87॥
जे नर स्त्रीआलुब्धा हसै, तेह नामने ईणी ग्रंथै रसैं।
जिम कमल माहि भमर रमै, गंध केतकी छांडै कीमै ॥88॥
'कामशास्त्र' मति उत्तम श्रेह, देई चित्तनें सुणसें जेह।
अनंत सुख पामिसें सदा, 'श्रीमरबुद' कहे सुखसंपदा ॥92॥

मोहनलाल दलीचंद देसाई ने 'जैन गुर्जर कविओं' में नरबुंदाचार्य के दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है—कोकशास्त्र चतुष्पदी[1] और पंचाख्यानोद्धार कथा।[2]

कोकशास्त्रचतुष्पदी को 'कोककला चोपई' भी कहा गया है। ग्रंथ के प्रारंभ में उन्होंने लिखा है—

'मातंगी मति आपीये, जिम कवित करु सुरसाल।
'कोककला' गुण बर्णवुं, प्रीछे बाल गोपाल ॥1॥
'कोकशास्त्र कोके' कीयऊ, ते जाई सुविचन्न।
कवि 'नरबद' ईम उचरई, बोलू कवित कथन्न ॥6॥

देसाई ने सं. 1782 कातिक शुक्ल 10 की प्रति से उद्धरण दिये हैं। पुष्पिका देखिए—'इति श्रीमज्जिनाचार्यं 'श्रीनरबुदाचार्य' विरचिते 'कोकशास्त्रे' दशम प्रकार संपूर्ण सं. 1792 वर्षे कार्तिक मासे शुक्ल पक्षे दशमी तिथौ गुरुवासरे बडगाम मध्ये।'

हर्षकीर्तिसूरि (1600 ई.)

यह तपागच्छ[3] की नागपुरीय (नागौरी) शाखा के आचार्य 'चन्द्रकीर्तिसूरि' के

---

[1] जैन गुर्जर कविश्रो, भाग 1, पृ. 323–325, भाग 3, खंड 1, पृ. 827।

[2] इस कथा की स्वयं कवि के हाथ से संवत् 1660 शक 1525 में गरिण भोजसागर के वाचन हेतु लिखी हुई हस्तप्रति भांडारकर इंस्टीट्यूट पूना में सुरक्षित है (ग्रंथांक 359, सन् 1871–2)।

[3] आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने अपने विवरण में तीन भूलें की हैं—प्रथम, हर्षकीर्ति के गुरु❀

शिष्य थे। चन्द्रकीर्तिसूरि ने अनुभूतिस्वरूपाचार्य की 'सारस्वतप्रक्रिया' पर टीका लिखी थी। यह दिल्ली के मुस्लिम शासक सलेमशाह (1545–1553 ई.) के समकालीन थे और इनको उस शासक ने सम्मानित भी किया था—

'श्रीमत्साहिसलेम भूमिपतिना संमानित सादरं।
'सूरिः' सर्वकलिंदिकाकलितधीः 'श्रीचंद्रकीर्तिः' प्रभुः॥'

(आर. जी. भांडारकर की रिपोर्ट 1882–83, पृ 43—पृ 227 पर उद्धृत अंश) मो. द. देसाई ने लिखा है कि पार्श्वचंद्रगच्छ के राजचन्द्रसूरि (जन्म सं. 1606, आचार्य 1626, स्व. 1669 के समकालीन राजरत्नसूरि के शिष्य चंद्रकीर्तिसूरि थे।[2]

रत्नशेखरसूरि की परम्परा में इनकी गुरुशिष्य-परम्परा इस प्रकार मिलती है—

रत्नशेखरसूरि पूर्णचन्द्र हेमहंस हेमसमुद्र जयशेखर
|
सोमरत्न
|
राजरत्नसूरि
|
चन्द्रकीर्तिसूरि
|
हर्षकीर्तिसूरि[3]

---

*का नाम मानकीर्ति लिखा है, द्वितीय—'प्रथम अध्याय के अन्त में जो श्लोक है उससे पता चलता है कि हर्षकीर्ति नागपुर का रहने वाला था।' पुनः आगे लिखा है— लेखक नागपुर के तपागच्छ स्थान का निवासी था'। तृतीय 'ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपने को प्रवरसिंह (संभवतः कोई राजा) के शिर का अवतंस कहा है। और गुरु का नाम चंद्रकीर्ति बतलाया है।' (आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, 1975, पृ. 216–217)। इन तीनों भ्रांतियों का निराकरण मेरे द्वारा दिये गये विवरण से स्वतः हो जाता है।

1 'धातुतरंगिणी' में हर्षकीर्तिसूरि ने अपनी परम्परा के भट्टारक यति पद्ममेरु के शिष्य पद्मसुन्दरगणि द्वारा अकबर की सभा में किसी पंडित को पराजित करने और स्वयं सम्मानित होने का उल्लेख किया है। पद्मसुन्दर को रेशमी वस्त्र, पालकी और गांव भेंट में मिले थे। इनको जोधपुर के राजा राव मालदेव से सम्मान मिला था—

साहेः ससदि 'पद्मसुंदरगणिर्जित्वा' महापंडितं
क्षौम-ग्राम–सुखासनाद्यकबरश्रीसाहितो लब्धवान्।
हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो वदान्योऽधिकं
'श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचाः पद्माह्वयं पाठकम्॥'

पद्मसुंदरगणि की अकबरसाहिदर्पण', रायमल्लाभ्युदयकाव्य (वि. सं. 1615) आदि अनेक रचनाएं हैं।

2 जैन गुर्जर कविओ. भाग 1, पृ. 470

3 जैन गुर्जर कविओ, भाग 3, खण्ड 1, पृ. 944

श्वेतांबर मत में तपागच्छ की उत्पत्ति मेवाड में, यहां के तत्कालीन शासक जैत्रसिंह द्वारा जगचंद्रसूरि को 1228 ई. में 'तपा' विरुद प्रदान करने से हुई थी। इस गच्छ का प्रभाव मेवाड़, मारवाड़ और गुजरात में व्याप्त है। इस गच्छ का सम्बन्ध नागौर (मारवाड़) से है। गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार नागौर का पुराना नाम 'नागपुर' और 'अहिच्छत्रपुर' था (द्र. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 2, पृ. 329)। हर्षकीर्तिसूरि के अधिकांश ग्रन्थ राजस्थान एवं गुजरात में ही मिलते हैं; अतः इनका मूलक्षेत्र राजस्थान (मारवाड़) या गुजरात में कहीं था, परन्तु विहार दोनों ही प्रदेशों में हुआ। इनकी संस्कृत के अतिरिक्त राजस्थानी व गुजराती में भी रचनाएं मिलती हैं। हर्षकीर्तिसूरि के शिष्य अमरकीर्ति और उनके शिष्य यशःकीर्ति हुए[1]

संस्कृत में इनकी अनेक रचनाएं मिलती हैं जिससे इनकी गभीर विद्वता का परिचय मिलता है।

1. धातुपाठ (सारस्वत व्याकरण संबंधी)
2. धातुतरंगिणी ('धातुपाठ' की स्वोपज्ञवृत्ति–टीका)
3. सारस्वतदीपिका (सारस्वतव्याकरण पर टीका)
4. सेट् अनिट्कारिका (वि. सं. 1662 में रचना)
5. सेट् अनिट्कारिका—स्वोपज्ञवृत्ति (वि. सं. 1669 में रचना)
6. शारदीयनाममाला (शारदीयाभिधानमाला) (कोशग्रन्थ)
7. श्रुतबोधटीका[2]
8. ज्योतिस्सारसंग्रह (वि. सं. 1660 में रचना)
9. जन्मपत्रीपद्धति (वि. सं. 1660 में रचना)
10. विवाहपटल – बालावबोध
11. लक्ष्य–लक्षण विचार
12. योगचिन्तामणि (वैद्यकसारसंगह)
13. वृहत् शांतिस्तोत्र–टीका (सं. 1655)
14. सिन्दूरप्रकर–टीका,
15. कल्याणमन्दिरस्तोत्र 'व्याख्यालेश' टीका (सं. 1668 में रचना)[3]
16. नवस्मरण–टीका

---

[1] जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 152

[2] इस टीका के प्रारम्भ में टीकाकार ने इस प्रकार अपना परिचय दिया है—

'श्रीमन्नागपुरीयपूर्वकतपागच्छाम्बुजाहस्कराः
सूरीन्द्राः चन्द्रकीर्तिगुरवो विश्वत्रयीविश्रुताः।
तत्पादाम्बुरुहप्रसादपदतः श्रीहर्षकीर्त्याह्वयोपाध्यायः
श्रुतबोधवृत्तिमकरोद् बालावबोधाय वै॥'

[3] जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, खंड 2, उपखंड 1, पृ. 297 पर इसका रचनाकाल सं. 1633 बताया गया है।

हर्षकीर्तिसूरि व्याकरण, ज्योतिष और वैद्यकविद्या में निष्णात थे। उपर्युक्त संस्कृत के ग्रन्थ प्रायः इन्हीं तीन विषयों से संबंधित हैं। गुजराती व राजस्थानी की रचनाएं धर्म कथा आदि से संबंधित हैं।[1]

हर्षकीर्तिसूरि श्वेतांबर 'उपाध्याय' और भट्टारक यति परम्परा के थे। तृतीय अध्याय की पुष्पिका में लिखा है – 'इतिश्रीभट्टारकश्रीहर्षकीर्त्युपाध्यायसंकलिते योगचिंतामणौ........।' भट्टारक साधु होने से लौकिक विद्याओं में इनकी उत्तम गति थी।[2]

इनका काल सोलहवीं शती का अन्तिम चरण एवं सत्रहवीं शती का प्रथम चरण है। इनकी अधिकांश रचनाएं वि. सं. 1660 (1603 ई.) के आसपास की हैं।

योगचिन्तामणि –

हर्षकीर्तिसूरि का यह प्रसिद्ध वैद्यक–ग्रंथ है। आयुर्वेदजगत् में जो सम्मान शार्ङ्गधरसंहिता को प्राप्त हुआ, उसी के समान परवर्ती वैद्य–परम्पराओं में, विशेषकर जैन यति–मुनियों की परम्पराओं में, 'योगचिंतामणि' को भी आदर मिला। हस्तलिखित प्रतियों में इसके 'योगचिंतामणि' के अतिरिक्त 'वैद्यकसारसंग्रह', 'सारसंग्रह', 'वैद्यकसारोद्धार' नाम भी मिलते हैं।[3] कुछ ह प्र. में ये तीनों नाम एक साथ भी मिलते हैं—

"नागपुरीयतपोगणराज 'श्रीहर्षकीर्ति' संकलिते 'वैद्यकसारोद्धारे' तृतीयो गुटिकाधिकारः ॥1॥ इति श्रीनागपुरीय तपागच्छीय 'श्रीहर्षकीर्तिसूरि' संकलिते 'योगचिंतामणौ वैद्यकसारसंग्रहे' गुटिकाधिकारः तृतीयः ॥3॥"

(रा. प्रा. वि. प्र., शा. का., उदयपुर, ग्रंथांक 1465, तृतीय अधिकार के अन्त की पुष्पिका।

रचनाकाल—पी. के. गोडे ने हर्षकीर्तिसूरिकृत योगचिंतामणि का रचनाकाल 1550 ई. के बाद अथवा 16वीं शती के तृतीयपाद में माना है।[4]

---

[1] इनको 'विजयशेठ विजयाशेठाणी स्वल्प प्रबंध' वि. सं. 1665 के लगभग) आदि छोटे काव्य हिन्दी–गुजराती में मिलते हैं।

[2] 'हर्षकीर्ति' नामक अन्य रचनाकार का वर्णन हिन्दी साहित्य में आता है। यह संभवतः जयपुर या उसके पास के निवासी थे। इनकी राजस्थानी मिश्रित हिन्दी में 'चतुर्गतिवेलि' (रचनाकाल वि. सं. 1683), 'पंचगतिवेलि' (रचना सं. 1683) आदि रचनाएं मिलती हैं। (देखिए—*डा. प्रेमसागर जैन, 'हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि'*, पृ. 174)।

[3] मो. द. देसाई ने हर्षकीर्ति द्वारा प्रणीत 'योगचिंतामणि' वैद्यकसारोद्धार और वैद्यकसारसंग्रह—नाम से पृथक् तीन वैद्यकग्रन्थों का उल्लेख किया है (जैन गुर्जर कविओ, भाग 1, पृ. 470)। वस्तुतः तीनों एक ही ग्रन्थ के नाम हैं।

[4] P. K. Gode, Studies in Indian Literary History, Vol. II, P. 11.

योगचिंतामणि का रचनाकाल सं. 666 से किंचित पूर्व का होना चाहिए क्योंकि जोधपुर में मैंने इस संवत् वाली हस्तप्रति देखी है।[1] सं 1650 की हस्तप्रति ला.द. इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद (ग्रंथाक 1281) में विद्यमान है, इस पर गुजराती में 'टबा' भी है। जाली ने इसका रचनाकाल सं. 1668 या 1666 के बीच माना है,[2] क्योंकि इन संवतों की प्राचीनतम हस्तप्रतियां उपलब्ध हैं। स्पष्ट है कि संवत् 1650 (1593 ई.) से पूर्व इस ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी।[3]

ग्रन्थ के प्रारम्भ में हर्षकीर्ति ने सर्वज्ञ (आदिनाथ) एवं अपने गुरु चन्द्रकीर्तिसूरि की वन्दना की है—

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्यादौ 'चन्द्रकीर्ति' गुरुं ततः।
'योगचितामणि' वक्ष्ये बालानां बोधहेतवे ॥1॥'

कुछ हस्तप्रतियों में 'चन्द्रकीर्ति' के स्थान पर 'मानकीर्ति' नाम भी मिलता है,[4] जो पाठ की अशुद्धि मात्र है।

ग्रन्थ के अन्त में गुरु 'चन्द्रकीर्ति' को 'सूरीश्वरप्रवरसिंहशिरोवतस' (सूरि–प्रमुख) विशेषण से संबोधित किया गया है

'सूरीश्वरप्रवरसिंहसिरोवतंस 'श्रीचंद्रकीर्ति'गुरुपादयुगप्रसादात्।
गम्भीरचारुतरवैद्यकसारशास्त्रं 'श्रीहर्षकीर्तिरतुलं विदधे प्रबंध: ॥81॥ (ग्रंथांत)

गुरु के बाद ग्रन्थारम्भ में भगवान् 'जिन' या 'तीर्थकृत्' (तीर्थंकर) की स्तुति निम्न शब्दों में की है—

'यत्र विश्वा समायांति तेजांसि च तमांसि च।
महीपस्तदहं वंदे चिदांनदमयं महः ॥2॥

---

[1] रा. प्रा. वि. प्र, जोधपुर, 4098

[2] जॉली, इण्डियन मेडिसिन, पृ. 4

[3] यह ग्रंथ प्रकाशित है। प्रथम बार बम्बई से सन् 1869 में मारवाड़ी में अनुवाद के साथ छपा है। इसके बाद पूर्णचन्द्रसेन शर्मा कृत गुजराती अनुवाद सहित एम. आर. जागुष्टे ने अहमदाबाद से प्रथम बार 1898 में छपाया था, जिसका द्वितीय संस्करण 1908 में निकाला था। डी. जी सादेकर ने मराठी अनुवाद सहित संपादित कर खानापुर (जिला, बेलगांव, कर्नाटक) से 1907 में छपाया था। ये संस्करण अब अनुपलब्ध हैं। वर्तमान में इसके दो मुद्रित संस्करण मिलते हैं— पहला, दत्तराम चौबे कृत, 'माथुरीमंजुषा' नामक हिन्दी भाषा–टीका सहित वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सन् 1940 में तथा दूसरा लखीमपुर निवासी पं. बुधसीताराम शर्मा कृत भाषा टीका सहित भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस से 1941 (तृतीयावृत्ति) में प्रकाशित हुए हैं।

[3] भांडारकर, पूना, ग्रंथांक 159

सिद्धौषधानि पथ्यानि रागद्वेषरुजां जये ।
जयति सद्वचांस्यत्र 'तीर्थकृत्सोऽस्तु' वः श्रिये ।।3।।
जगत्त्रितयलोकानां पापरोगापनुत्तये ।
यद्वाक्यभेषजां भाति श्रीजिनः स श्रियेस्तु नः ।।4।।'

ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि आत्रेय, सुश्रुत, पराशर, वाग्भट, अश्विनी, हारीत, वृन्द, भृगु चिकित्साकलिका, भेड आदि के मत यहां उद्धृत किये गये हैं —

आत्रेयसुश्रुतपराशर–वाग्भटाश्वि–हारीत–वृन्द–कलिका–भेडवराभिधेयाः ।
येऽमी 'निदानयुतकर्मविपाकमुख्यास्तेषां मतं समनुसृत्य मया कृतोऽयम् ।।
(ग्रंथांत, श्लोक 83)

ग्रन्थकार के समक्ष पूर्व निर्मित 'योगप्रदीप' और 'योगशतक' का आदर्श विद्यमान था । अतएव उसने उसी क्रम में योगचिंतामणि के प्रसिद्ध होने की कामना की है—

'यथा 'योगप्रदीपोऽस्ति' पूर्वं 'योगशतं' तथा ।
तथैवायं विज्ञायतां योगश्चितामणिश्चिरम् ।।' (ग्रंथांत में, श्लोक 85)

हर्षकीर्तिसूरि ने अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर रहस्यरूप में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया था—

'विचार्य पूर्वशास्त्राणि हर्षकीर्त्याह्वसूरिणा ।
किंचिदुद्धृतये स्मैतद्रहस्यं वैद्यकार्णवात् ।।' (ग्रंथांत में, श्लोक 82)

प्राचीन—पूर्व प्रचलित प्रसिद्ध 'सिद्ध–औषध' योगों का ही इसमें संग्रह किया गया है । पंडितों द्वारा अनादर के भय से लेखक ने नवीन पाठ या योग नहीं दिये हैं—

'प्राप्ताःप्रसिद्धिं सर्वत्र सुखबोधाश्च ते यतः ।
अतः पुरातनैरेव पाठैः संगृह्यते मया ।।6।।

नूतनपाठे विहितेऽनादरमिह पंडिताः यतः कुर्युः ।
तस्मादार्षवचोभिर्निबध्यते न त्वसामर्थ्यात् ।।7।। (ग्रंथारम्भ में)

इसीलिए इस ग्रन्थ में रोगों का क्रम और निदान निरूपण नहीं किया गया है, केवल कल्पनानुसार योगों का संग्रह है—

'न रोगाणां क्रमः कोऽपि न निदाननिरूपणं ।
केवलं बालबोधाय योगाः केऽपि निरूपिताः ।।' (ग्रंथांत, श्लोक 80)

इस ग्रन्थ में सात अध्याय हैं—पाक, चूर्ण, गुटी, क्वाथ, घृत, तैल और मिश्रक—

'पाकः 1 चूर्णं 2 गुटी 3 क्वाथ 4 घृत 5 तैल 6 समिश्रकाः ।
अध्यायाः सप्त वक्ष्यन्ते ग्रन्थेस्मिन् 'सारसंग्रहे' ।।' (ग्रंथारंभ, श्लोक 5)

ग्रन्थ के प्रारम्भ में वैद्य और रोगी के लक्षण, नाड़ी-मूत्र-मुख-जिह्वा-मल-स्पर्श और शब्द परीक्षाएं, आयुर्विचार, आयुर्लक्षण, कालज्ञान, देशज्ञान, मानपरिभाषा, शारीरक,

सप्तकला, सप्तआशय, सप्तधातु, उपधातु और त्वचा का संक्षेप में वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् क्रमशः 'प्रथमादि षष्ठ अध्यायों' में पाक 34, चूर्ण 61, गुटिका 59, क्वाथ 64, घृत 21, तैल 22 के अव्यर्थ योगों का संग्रह किया गया है। सप्तम 'मिश्रकाधिकार' में गुग्गुलु प्रकरण (8 योग), शंखद्राव, गंधकविधि, शिलाजतु, स्वर्णादिधातु-मारण, मृगांकरस, ताम्र-वंग-नाग-सार-मंडूर-अभ्रक का मारण और गुण, धातुसत्व-पातन, पारदशोधन आदि रसशास्त्र संबंधी विषय. सिद्धरसौषधियोग (25), आसव-अरिष्ट 6 योग, लेप 37 योग, पंचकर्म, रक्तमोक्ष, वाष्पस्वेदन, विषचिकित्सा, स्त्री-चिकित्सा, गर्भनिवारण, गर्भपातन प्रभृति विषय तथा अंत में 'कर्मविपाक' प्रकरण दिया गया है।

इसमें फिरंगरोग (सिफलिस) और उसकी चिकित्सा में चोपचीनी का तथा पारद और अफीम का उल्लेख है। 'मधुराज्वर' नाम से टाइफाइड का वर्णन भी है। ग्रंथ का प्रथम 'पाक प्रकरण' विशेष उल्लेखनीय है। प्राचीन अवलेहों की कल्पना-परम्परा के स्थान पर समाज में पाक निर्माण का महत्व बढ़ता जा रहा था। यह यूनानी चिकित्सा का प्रभाव था। पाकों पर सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में विस्तार से विवरण मिलता है। पाक-प्रकरण के प्रारम्भ में लिखा है चिकित्सा में दो ही सारभाग (मुख्य भेषज हैं-पाकविद्या और रसायन। ('चिकित्सायां द्वयं सारं पाकविद्या रसायनम्')। यह वचन माधवउपाध्यायकृत 'पाकावली' में संभवतः यहीं से उद्धृत हुआ है। विजयापाक और अफीमपाक भी दिये हैं। मध्ययुगीन समाज में प्रचलित चिकित्सायोगों के संबंध में जानकारी देने वाला यह अपूर्व ग्रन्थ है। इससे चिकित्सा में उस काल में पाकों और रसायनों की महत्ता भी सूचित होती है।

'अम्लवेतसचूर्ण' में अम्लवेतस के फलों को लेने का उल्लेख है। रसयोगों में 'घोडाचोली' (अश्वकंचुकी) द्रष्टव्य हैं। भावप्रकाश से 'रसकर्पूर' भी इसमें उद्धृत है। अतः यह भावप्रकाश से बाद की रचना है। नाडीपरीक्षा शार्ङ्गधरसंहिता पर आधारित है।

कुछ हस्तप्रतियों से ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ के संग्रह में ग्रंथकार को 'उपकेशगच्छीय वाचक विद्यातिलक' का सहयोग प्राप्त हुआ था —

> 'श्रीमदुपकेशगच्छीयविद्यातिलकवाचकाः !
> किञ्चित् संकलितो योगवार्ता किञ्चित् कृतानि च ॥'

ग्रंथ के प्रत्येक अध्याय की अन्तिम पुष्पिकाओं में भेद मिलता है। विभिन्न हस्तप्रतियों में भी पुष्पिकाओं में अन्तर मिलता है—

1. प्रथम अध्याय के अन्त में—

'नागपुरीययतिगण श्रीहर्षकीर्तिसंकलिते वैद्यकसारोद्धारे प्रथमः पाकाधिकारोऽयम्।'

2. द्वितीय अध्याय के अन्त में—

'इति श्रीनागपुरीयभट्टहर्षकीर्तिसूरिसंकलिते वैद्यकसारसंग्रहे चूर्णाधिकारो द्वितीयोऽध्यायः ।'

3. तृतीय अध्याय के अन्त में —

'इति श्रीभट्टारकश्रीहर्षकीर्त्युपाध्यायसंकलिते योगचिंतामणौ वैद्यकसारसंग्रहे गुटिकाधिकारस्तृतीयः ।'

4. चतुर्थ अध्याय के अन्त में —

'इति श्रीमन्नागपुरीतपागच्छीय (अथवा 'तपोगणनायक') श्रीहर्षकीर्त्युपाध्यायसंकलिते योगचिंतामणौ वैद्यकसारसंग्रहे क्वाथाधिकारश्चतुर्थः ।,

पांचवें, छठे और सातवें अध्याय की पुष्पिकाएं भी ऐसी हीं है ।

टीकाएं —

इस ग्रंथ पर राजस्थानी और गुजराती में टीकाएं, बालावबोध और स्तबक भी प्राप्त हैं । इससे ग्रंथ की उपयोगिता और लोकप्रियता प्रकट होती है ।

खरतरगच्छीय वाचनाचार्य 'रत्नराजगणि' के शिष्य 'रत्नजय' ने योगचिंतामणि पर 'बालावबोध' नामक भाषा-टीका लिखी थी । संभवतः गृहस्थावस्था का इनका नाम 'नरसिंह' था । यह टीका गुजराती में है ।

'श्रीखरतरगच्छीयवाचनाचार्यरतनराजगणिशिष्यगणकशास्त्राय नरसिंहकृतः बालावबोधः समाप्तः तत्समाप्तौ समाप्तोयं श्रीयोगचिंतामणिनामा वैद्यकशास्त्रं संपूर्णं ।। संवत् 1801 फाल्गुणमासे शुभे शुक्ले पक्षे तिथौ द्वितीया भृगुवासरे लिखि पूर्णं ।। लिषितं महात्मा फकीरदासलषणयतीमध्ये ।। श्रीरस्तु।।' (भांडारकर, पूना, ग्रंथांक 158)।

छठे अंगसूत्र ज्ञाता पर नरसिंह कृत 'टब्बा' की प्रति संवत् 1733 की प्राप्त है । इन्होंने प्रसिद्ध 'कल्पसूत्र' पर भी टीका लिखी थी । अतः इनका काल 17वीं शती का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है ।

जोधपुर में बालावबोध सहित योगचिंतामणि की संवत् 1724 (1667 ई.) की हस्तप्रति सुरक्षित है ।[1]

योगचिंतामणि पर तेलुगु (आंध्र) भाषा में भी टीका उपलब्ध है ।[2]

राजस्थान की वैद्य-परम्पराओं में और जैन यति-मुनियों की वैद्यक-परम्परा में हर्षकीर्तिसूरि के 'योगचिंतामणि' का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार पाया जाता है ।

जयरत्नगणि (1605 ई.)

'जयरत्नगणि' श्वेताम्बर सम्प्रदाय में पूर्णिमापक्ष के आचार्य 'भावरत्न' के शिष्य

---

[1] रा. प्रा. वि. प्र., जोधपुर. ग्रंथांक 6861

[2] सरस्वती महल, तंजोर, ग्रंथांक 11094

थे। इनका निवास स्थान 'त्रांबावती' नगर (खंभात, गुजरात) था। यह नगर देश-विदेश के व्यापार का केन्द्र और विशेषकर मोती आदि बहुमूल्य रत्नों के व्यापार का केन्द्र होने के कारण प्राचीनकाल से समृद्ध रहा है। यहीं पर जयरत्नमणि ने 'ज्वरपराजय' नामक वैद्यक-ग्रंथ की रचना की थी। ग्रन्थारंभ में उसने लिखा है—

'यः 'श्वेतांबर' मौलिमण्डनमणिः सत्पूर्णिमापक्षवान्,
यस्तास्ते वसतिः समृद्धनगरे 'त्र्यबावतीनामके।
नत्वा 'श्रीगुरुभावरत्नचरणौ' ज्ञानप्रकाशप्रदौ,
सद्बुद्ध्या 'जयरत्न' आरचयति ग्रंथभिषक्प्रीतये ॥6॥'

ग्रन्थकार ने वैद्यक के अनेक मान्य ग्रंथों का अध्ययन किया था। उनके आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की थी। इनमें आत्रेय, चरक, सुश्रुत, भोज या भेल ड), वाग्भट, वृन्द, अंगद ?), नागसिंह, पाराशर, सोढल, हारीत, तीसट, माधव, पालकाप्य आदि मुख्य हैं। इनका उल्लेख ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ में किया गया है—

'आत्रेयं चरकं सुश्रुतमथो भोजाभिधं भेलाभिधं वाग्भटं,
सद्वृन्दाङ्गद-नागसिंहमतुलं पाराशरं सोड्ढलम्।
हारीतं तिसटं च माधवमहाश्रीपालकाप्यादिकान्,
सद्ग्रन्थानवलोक्य साधुविधिना चैतांस्तथाऽन्यानपि ॥ ॥'

इस ग्रन्थ के अन्त में इसका रचनाकाल वि. सं. 1662 भाद्रपद, शुक्ल 1 मंगलवार दिया गया है—

'श्रीविक्रमाद् द्वि-रस-षट्-शशिवत्सरेषु। 1662,
यातेष्वथो नभसि मासि सिते च पक्षे।
तिथ्यामथ प्रतिपदि क्षितिसूनुवासरे,
ग्रन्थोऽरचि 'ज्वरपराजय' एष तेन ॥437॥'

लेखक वैद्यविद्या में निपुण और कुशल चिकित्सक था। इस ग्रन्थ में कुल 439 पद्य हैं। साहित्य संस्थान उदयपुर ग्रंथांक 485) वाली प्रति में 442 श्लोक हैं। इसमें विविध प्रकार के ज्वरों के निदान और चिकित्सा का विस्तार से वर्णन है। इसमें निम्न विषय आये हैं—

1. मंगलाचरण— (श्लोक 1-7) देवदेव (ऋषभदेव), नागवक्त्र, सरस्वती, धन्वन्तरि, आयुर्वेदप्रणेता आचार्य, गुरू भावरत्न के प्रति नमस्कार।
2. शिराप्रकरण—(श्लोक 8-16)
3. दोषप्रकरण—(श्लोक 17-51)
4. ज्वरोत्पत्यादिप्रकरण—(52- 59)—ज्वरों की उत्पत्ति (निदान हेतु), भेद और लक्षण बताये हैं।
5. चिकित्सा हेतु देशादि का परीक्षण—

'देशं च कालवयसो: ज्वलनस्वभावान्, सात्म्यौषधे च तनुसत्वबले गदं च ।
सम्यक् विलोक्य तदनंतरमेव वैद्यो, नृणां यथोचितचिकित्साकर्म कुर्यात् ।।160।।'

देशलक्षण (161–164), ऋतुज्ञान (165–184, ऋतु वर्णन और उपचार), कुचिकित्सक (185), अच्छा चिकित्सक (186), वैद्य का कर्तव्य (187), चिकित्सा का रूप (188)

6 उक्तज्वराणां चिकित्सा पद्धति (189–227)
7. बस्तिकर्माधिकार (228–235)
8. ज्वरों में पाचनादि एवं चिकित्सा (236–374)
9. पथ्याधिकार (375–394)
10. सन्निपात प्रकरण (395–442) ।

इस ग्रंथ में कायस्थ चामुण्ड कृत 'ज्वरतिमिर भास्कर' से भी उद्धरण लिये गये हैं (श्लो. सं. 57) ।

वातादिज्वरों के अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भेद से ज्वरों के भेद, अजीर्णज्वर, क्षेत्रज्वर, रक्तज्वर, कामज्वर, खेदज्वर, दृष्टिज्वर, एकांतज्वर, कालज्वर आदि की उत्पत्ति (हेतु), लक्षण और चिकित्सा भी बताई है । परन्तु इनका अन्तर्भाव वातादिदोषों के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है । यथा – पित्तज्वर में अजीर्णज्वर, रक्तज्वर, कामज्वर, खेदज्वर, वैश्यज्वर, दृष्टिज्वर का उल्लेख है ।

ग्रंथ अप्रकाशित है । यह एक महत्वपूर्ण रचना है ।

जयरत्नगणि ने 'ज्योतिष' संबंधी प्रश्नलग्न पर 'दोषरत्नावली' ग्रंथ भी लिखा है।[1]

लक्ष्मीकुशल (1637 ई.)

लक्ष्मीकुशल तपगच्छ की वीरशाखा में पंडित जिनकुशल के शिष्य थे। यह गुजरात के निवासी थे । इन्होंने ग्रन्थ के अंत में अपनी गुरु-शिष्य परम्परा दी है—वीर तपगच्छ में सत्तावनवें पट्टधर साधु सुमतिसूरि हुए। आगे कीं परम्परा इस प्रकार रही–सुमतिसूरि-हेमविमलसूरि-सोभाग्यहर्ष-सोमविमलसूरि–हेमसोमसूरि–विमलसोमसूरि-विशाल सोमसूरि-पं. जिनकुशल-लक्ष्मीकुशल ।

भूलो अक्षर विसमु जेह, सो जानि सवि करज्यो तेह ।
'तपगच्छ' मूल लहुढ़ी पोसाल, जाणि जेहनि बालगोपाल ।।49।।
वीर पाटि पटोधर घणा, पार न पामु तेह गुणतणा ।
'सतावनमि' पाटि सार, श्री 'सुमति साधु सूरि' अणगार ।।50।।

---

[1] जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 180

तास पाटि हेमविमलसूरि, जेह समरि पाप जई दूरि ।
तास पाटि 'सोभाग्यहर्ष' जांणि, तपसंयम फेरी गुणखांणि ॥51॥
तास पाटि अति गुण भंडार, 'सकलसूरि' सिरोमणि सार ।
श्री 'सोमविमलसूरि ते मांणि, जस नामि संपति श्रेष्ठ आंणि ॥52॥
तेहतणो पटोधर जेह 'हेमसोमसूरि' नामि तेह ।
तास पाटि 'विमलसोमसूरि', जस नामि दूरित जाये दूरि ॥53॥
तास पाटि पटोधर भलो, श्री विशालसोमसूरि गुणानिलो ।
प्रतिरूपी तेजस्वी सही, छत्रीसई गुणषांणिज कही ॥54॥
आचारजिना गुण जेतला, 'श्री विशालसोमसूरिमां तेतला ।
प्रौढ परिवार तेहनो सार, पंडित तणो नवि लाभई पार ॥5 ॥
'जिनकुशल' पंडित तेहमां खांण ग्रहगणमांहि दीपई जिम भांण ।
'लक्ष्मीकुशल' तसु केरो सीस, गुरु प्रसादई हुई जगीस । 56॥

(वै सा.र.प्र., ग्रंथांत)

इनकी एक ही वैद्यक कृति मिलती है—'वैद्यकसाररत्नप्रकाश' । यह चौपाई छंद में गुजराती भाषा में लिखा गया है । लक्ष्मीकुशल ने 'रायदेश' के 'ईडर नगर' के पास 'ओडा' नामक ग्राम के जिनमंदिर में चौमासा व्यतीत किया । वहीं संवत् 1694 (1637 ई.) फाल्गुन सुदी 13 शुक्रवार को इस ग्रन्थ को पूर्ण किया—

'रायदेस' जगमांहि प्रसिद्ध, 'ईडरनगर' अछई समृद्ध ।
ते पासई छई 'ओडा' गाम, धर्मतणां जिहां मोटां ठांम ॥59॥
'जिनमंदिर' अभिनंदन देव, 'प्रागवंश' सारई सेव ।
गुरुतणो आदेशज लही, 'लक्ष्मीकुशल' चऊमांसु रही ॥60॥
'संवत सोलचुराणु'' जेह, फागुण सुदि तेरस वली तेह ।
शुक्रवार संयोगई सही, 'लक्ष्मीकुशलई' ए चऊपई कही ॥ 1॥

लक्ष्मीकुशल ने वैद्यकविद्या को अपने गुरु से सीखा था । इस ग्रंथ की रचना में आत्रेयनिदान व सुश्रुतसार और अन्य ग्रन्थों का आधार लिया गया था ।

देवगुरु प्रसादि करी, 'रत्नप्रकास ए चऊपई धरी ।
'आत्रेयनिदान' 'सुश्रुत्तनु'' सार, ऊपर ग्रंथतणो उद्धार ॥62॥

इस ग्रन्थ में 11 अधिकार हैं—

ग्रही 'नामरतन' ते जांणि शास्त्र विचारि बोली वांणी ।
हितकारिणी ए चउपई सार, रच्या एकादश अधिकार ॥63॥

देसाई ने 'वैद्यकसाररत्नप्रकाश' की संवत् 1718 फा.वदि 2 सोम. की हस्तलिखित प्रति का 'जैन गुर्जर कविओ' भाग 1, में उल्लेख किया है ।

लेखक ने ग्रन्थ में गुरु की महिमा बताई है ।

'गुरुविण माईं प्रसन्न न होई, गुरुविण ज्ञान न पामंई कोई।
गुरु प्रसादि सर्व सिद्धि मिलई, अलीय विघन सवि दूरि टलि ॥57॥

हंसराजमुनि[1] (17वीं शती पूर्वार्ध)

यह खरतरगच्छीय वर्द्धमानसूरि के शिष्य थे। इनका काल 17वीं शती पूर्वार्ध ज्ञात होता है।

इन्होंने नेमिचन्द्र कृत प्राकृत के 'द्रव्यसंग्रह' पर 'बालावबोध' लिखा था। कविप्रदत्त प्रशस्ति इस प्रकार है —

'द्रव्यसंग्रहशास्त्रस्य 'बालबोधो' यथामतिः।
'हंसराजेन मुनिना' परोपकृतये कृतः ॥1॥

इनकी अन्य रचना 'ज्ञानद्विपंचाशिका-ज्ञानबावनी' भी मिलती है। इसका उल्लेख मो.द. देसाई ने 'जैनगुर्जर कविओ' भाग 3 खंड 1, पृ. 806 पर किया है। इसका 'लिपिकाल' सं. 1709 (1652 ई.) है।

'भिषक्चक्रचित्तोत्सव'—इसे 'हंसराजनिदानम्' भी कहते हैं। यह आयुर्वेदीय निदान पर बहुत उत्तम ग्रन्थ है। इसका वैद्य-परम्पराओं में विशेष कर जैन यति-परम्परा में बहुत व्यवहार होता रहा है।

इसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ग्रन्थारंभ में 'श्री पार्श्वनाथाय नमः' लिखकर सरस्वती, उमा और धन्वन्तरि को नमस्कार किया है।

इस ग्रन्थ का नाम 'भिषक्चक्रचित्तोत्सव' दिया है, परन्तु इसे लेखक ने अपने नाम से संबद्ध भी बताया है—

'भिषक्चक्रचित्तोत्सवं' जाड्यनाशं करिष्याम्यहं बालबोधाय शास्त्रम्।
नमस्कृत्य 'धन्वन्तरिं' वैद्यराजं जगद्रोगविध्वंसनं स्वेन नाम्ना ॥5॥'

इसके अतिरिक्त, ब्रह्मा, शिव, विष्णु, शुक्र, भारद्वाज, गौतम, हारीत, चरक, अत्रि, वृहस्पति, धन्वन्तरि, माधव, अश्विनी कुमार, नकुल, पाराशरमुनि, दामोदर, वाग्भट और

---

[1] एक अन्य हंसराज तपागच्छीय हीरविजयसूरि के शिष्य थे इनका 'वर्धमानजिनस्तवन' 100 पद्य, सं. 1652 के पूर्व का लिखा मिलता है। इसमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है —

'तपगच्छ' ठाकुर गुण विरागर, 'हीरविजय' सूरीश्वर,
'हंसराज वंदे मन आणंदे, कहे धनमुख एह गुरु ॥'

इनका अन्य ग्रन्थ 'हीरविजयसूरि लाभ प्रवहण सज्झाम' है [देसाई, जैन गु. क., भाग 3, खंड 1, पृ, 805]।

वैद्यक में निपुण मुनियों को नमस्कार किया है—

'ब्रह्मेशो गरुडध्वजो भृगुसुतो भारद्वाजो

गौतमो हारीतश्चरकोऽत्रिकः सुरगुरुर्धन्वन्तरिर्माधवः ।

नासत्यो नकुलः पराशरमुनिर्दामोदरो वाग्भटो

येऽन्ये वैद्यविशारदाः मुनिवरास्तेभ्योऽपरेभ्यो नमः ॥6॥

यह पद्य दीपकचन्द्रवाचककृत 'लंघनपथ्यनिर्णय' (सं. 1702) में उद्धृत हुआ है। ग्रन्थकारने आत्रेय, धन्वन्तरि, सुश्रुत, अश्विनीकुमार, हारीत, माधव, सुषेण, दामोदर, वाग्भट, सनत्कुमार और चरक आदि के मत (ग्रन्थ) देखकर इसकी रचना की है—

आत्रेय-धन्वन्तरि सुश्रुतानां नासत्यहारितकमाधवानाम् ।

सुषेणदामोदरवाग्भटानां दस्रस्वयम्भूचरकादिकानाम् ॥7॥

एषां समालोक्य मतं मुहुर्मुहुर्ग्रन्थो मनोज्ञः क्रियते मयाऽधुना ।

पद्यैरदोषै रचितोऽल्पमेधसां ज्ञानाय नूनं भिषजात्ममानिनाम् ॥8॥

ग्रंथमें अध्यायांत पुष्पिकाओं में—"इति श्रीभिषक्चक्रचित्तोत्सवे हंसराजकृते वैद्यशास्त्रे".... लिखा मिलता है, परन्तु केवल ज्वरनिदान के अन्त में इसे 'हंसराजनिदान' भी कहा है—'इति 'श्री भिषक्चक्रचित्तोत्सवे हंसराजकृते हंसराजनिदाने वैद्यशास्त्रे ज्वरलक्षणं प्रथमम् ।' 'हंसराजनिदान' नाम से ही यह अधिक प्रसिद्ध है।

चिकित्सा करने से पूर्व देश, बल, अवस्था, काल, गर्भिणी के रोग, औषध और वृद्ध वैद्य के मत जान लेने चाहिए—

"देशं बलं वयः कालं गुर्विणी गदमौषधम् ।

वृद्धवैद्यमतं ज्ञात्वा चिकित्सामरभेत्ततः ॥10॥"

ग्रन्थ के अन्त में हरि (विष्णु) को स्मरण किया है—

'भिषक्चक्रचित्तोत्सवं वैद्यकशास्त्रं कृतं हंसराजेन पद्यैर्मनोज्ञैः ।

सुहृद्यैरदोषैरुजोध्वान्तनाशं हरेरङ्घ्रिसंसेवनानन्दमूर्तेः ॥11॥ (मूत्रलक्षणांत)

माधवनिदान के समान इसमें रोगों का विशिष्टक्रम मिलता है—

प्रारम्भ में नाडीपरीक्षा व रोग-हेतु बताये हैं। फिर क्रमशः ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, अर्श, भगंदर, अजीर्ण, अलसक, विलंबिका, कृमि, पाण्डु, कामला-कुम्भकामला-हलीमक-पानकी, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, कास, हिक्का, श्वास, स्वरभेद, अरुचि, छर्दि, तृष्णा, दाह, मदात्यय, उन्माद, अपस्मार, वातव्याधि, वातरक्त, उरुस्तंभ, आमवात, परिणामशूल-शूल, आनाह-उदावर्त, गुल्म, हृद्रोग, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, प्रमेह, पिटिका-मसूरिका, प्रमेहपिटिका, मेदवृद्धि, गण्डमाला, श्लीपद, विद्रधि, उपदंश, शूकदोष, कुष्ठ, उदर्द, अम्लपित्त, विसर्प, क्षुद्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, नासारोग, नेत्ररोग, मस्तक-रोग, स्त्रीरोग, प्रसूति, बालरोग, विषरोग, मूत्रपरीक्षा, नपुंसकलक्षण।

यह ग्रन्थ स्रग्धरा, शार्दूलविक्रिडित, भुजंगप्रयात आदि ललित पद्यों में रचा गया है।

यह ग्रन्थ दत्तराम माथुर कृत 'हंसराजार्थबोधिनी' भाषाटीकासाहित नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित है। खेमराज श्रीकृष्णदास, बंबई से भी सं. 1979 में इसका प्रकाशन हुआ था।

जैन साहित्यका वृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 231 पर लिखा है—

'हंसराज नामक विद्वान् ने'चिकित्सोत्सव'नाम 1700 श्लोक-प्रमाण ग्रंथ का निर्माण किया है। यह ग्रन्थ देखने में नहीं आता है।'

हस्तिरुचि (1669 ई.)

जैन विद्वानों द्वारा विरचित वैद्यकग्रंथों में हस्तिरुचिकृत 'वैद्यवल्लभ' का अन्यतम स्थान है। यह ग्रन्थ उत्तर मध्ययुगीन जैन–यति एवं वैद्यों की परम्परा में बहुत समादृत हुआ। राजस्थान एवं गुजरात में इसका पर्याप्त प्रचार-प्रसार रहा। अरावली के पश्चिम में गुजरात और मारवाड़ का क्षेत्र परस्पर जुड़ा हुआ है। प्राचीन समय में दोनों क्षेत्रों में एक ही अपभ्रंश भाषा बोली जाती थी, जिससे कालांतर में सम्भवत: चौदहवीं शती के बाद प्रदेशों की भिन्नता के आधार पर गुजरात में गुजराती एवं मारवाड़ में मरुभाषा विकसित हुई। परन्तु सांस्कृतिक आदान-प्रदान तो बहुत बाद तक प्रचलित रहा। मारवाड़ के जैनयति-मुनि भी मारवाड़ एवं गुजरात में विचरण करते थे। हस्तिरुचि का विहार भी पश्चिमी भारत में रहा। अत: उनका यह ग्रन्थ इस क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध रहा।

हस्तिरुचि तपागच्छीय रुचि शाखा के जैन यति थे। 'चित्रसेन पद्मावति रास' (गुजराती) के अन्त में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—

'सिरि 'तपगच्छ' कज दिनमणी, जयवंतारे,
'श्री हीरविजय सूरिराज', साधु गुणवंतारे,
प्रतिबोधो पातस्या जिणि ज. करिया कोडिगमे धर्मकाज, सा. [1]

---

[1] प्रियव्रत शर्मा ने हर्षकीर्तिसूरि की भांति हस्तिरुचि को भी तपागच्छ का निवासी बताया है। 'लेखक महोपाध्याय हितरुचिगणि का शिष्य था और तपागच्छ का निवासी था। यह स्मरणीय है कि तपागच्छ का निवासी योगचिंतामणि का प्रणेता हर्षकीर्ति भी था। संभवत: ये दोनों समकालीन हों।' (आ. वै. इ. पृ. 299) वस्तुत: ये दोनों बातें अशुद्ध हैं। हर्षकीर्तिसूरि और हस्तिरुचि दोनों श्वेतांबर जैन तपागच्छ परम्परा के थे। दोनों के काल में भी काफी अन्तर है। हर्षकीर्ति का काल 1600 ई. के लगभग है, और हस्तिरुचिका काल 17वीं (1673 ई.) शतीका उत्तरार्ध है।

'श्री विजयसेन' तस पटधरु, ज., सकल सूरिसिरताज, सा.
शमदम विद्यागुणनिलो, ज., सकल सूरि सिरताज, सा. 2
तस पट दीपक जागि जयो, ज. श्री 'विजयदेवसूरिंद, सा.
तपजप किरिया गुणनिलो ज. प्रणमु पद अरविंद, सा. 3
तस गच्छ सवि कवितिलो ज., लक्ष्मीरुचि' कविराय,
'विजयकुशल' कवि तेहनो, सीस 'उदयरुचि' कहिवाय । 4
शिष्य सत्तावीस तेहनें, तप जप विद्यावंत
श्री 'हितरुचि उपम्मायनो, सीस कर जोकि षभणंत । 5
ग्रंथाग्र अक्षर गण्यो, बारसयां पंचास,
श्री बगलामुखी ससिमुखी, ध्यान धरी मनि तास । 6
सा सामिनी सुपसाउले, सिद्धांतसार ए ग्रंथ,
रसिक लोक वल्लभ रचिओ कहे 'हस्तिरुचि' निग्रन्थ । 7
संवत 'सतर सत्तरोत्तरि' विजय दशमी शुभदिन्न ।
'अमदाबाद' आल्हादस्यु, श्री संघ सहु सुप्रसन्न । 8'
अंत में लिखा है–तपगच्छि दीपे कुमति चीपे उपभाय 'हितरुचि' हित करो ।
तस सीस 'हस्तिरुचि' ग्रेम प्रमाणें सकल मंगल जय करो ॥
(जैन गुर्जर कविओ, भाग 2, पृ. 185-86 पर उद्धृत)

तपागच्छ में 'हीरविजयसूरि' हुए, जिन्होंने बादशाह अकबर को प्रतिबोध दिया था । उनके पट्टधर 'विजयसेन सूरि' हुए, उनके पट्टधर 'विजयदेवसूरि हुए । उनके गच्छ में कविओं की परम्परा में 'लक्ष्मीरुचि' कवि हुए, उनके शिष्य 'विजयकुशल' कवि हुए, उनके शिष्य 'उदयरुचि'कवि हुए। उदयरुचि के सत्ताईस शिष्य थे जो जप, तप और विद्या में निपुण थे । उनमें से एक हितरुचि हुए । उनके ही शिष्य हस्तिरुचि हुए । ये प्रकाण्ड विद्वान् और प्रसिद्ध चिकित्सक थे । स्वयं को इन्होंने 'कवि' कहा है ।

हस्तिरुचि की गुजराती भाषा में 'चित्रसेन पद्मावति रास' नामक काव्य–रचना मिलती है । इसकी रचना कवि ने अहमदाबाद में सं. 1717 (1660 ई.) विजयादशमी के दिन पूर्ण की थी[1] । निश्चितरूप से कहा नहीं जा सकता कि हस्तिरुचि किस क्षेत्र के निवासी थे । जैन मुनि विहार करते हुए अन्यत्र भी जाते रहते हैं । कुछ इन्हें मारवाड़ क्षेत्र का मानते हैं । परन्तु इनका गुजरातनिवासी होना प्रमाणित होता है ।

वैद्यक पर इनकी दो रचनाएं मिलती हैं–1 वैद्यवल्लभ और 2 वन्ध्याकल्पचोपई

---

[1] **दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री ने लिखा है—'यह ग्रन्थ सं. 1670 में रचा गया था, ऐसा गोंडल के इतिहास में लिखा है, कर्ता का नाम हस्तिरुचि के स्थान पर हस्तिसूरि लिखा है ।' (आयुर्वेदनो इतिहास, पृ. 244)**

1 वैद्यवल्लभ–

यह ग्रन्थ मूलतः संकृत में पद्यबद्ध लिखा गया था। फिर इसका, संभवतः लेखक (हस्तिरुचि) ने ही गुजराती में अनुवाद किया था। मूलग्रन्थ का रचनाकाल संवत् 1726 (1669 ई.) दिया है।

'तेषां शिशुनां हस्तिरुचिना सद्वैद्यवल्लभो ग्रन्थः।
रसनयनमुनिदुवर्षे परोपकाराय विहितोयं ।।' (ग्रन्थांत)

भांडारकर ओ.रि.इं पूना की हस्तलिखित प्रति (ग्रंथांक 281,599/1899-1915) के अन्त में दो पद्य अधिक मिलते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि तपागच्छ के उदयरुचि के हितरुचि आदि अनेक शिष्य हुए जो 'उपाध्याय' पद को धारण करते थे।

'श्रीमत्तपागणांभोजनायकेन नभोमणि।
प्राज्ञोदयरुचिर्नाम बभूव विदुषाग्रणी ।।55।।
तस्यानेके महशिष्या हितादिरुचयो वस।
जगन्मान्यारुपाध्यायपदस्य धारकाऽभवत् ।।56।।'

अंतिम पुष्पिका इस प्रकार मिलती है–'इति श्रीकवि हस्तिरुचिकृतवैद्यवल्लभो ग्रंथसंपूर्ण।।'

यह ग्रन्थ मथुरा निवासी पं. राधाचंद्र शर्मा कृत ब्रजभाषाटीका सहित वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से सं. 1978 में प्रकाशित हुआ है।

इस ग्रन्थ में आठ 'विलास' (अध्याय) हैं—1 सर्वज्वरप्रतीकार निरूपण (28 पद्य), 2 स्त्रीरोगप्रतिकार (41 पद्य) 3 कास–क्षय-शोफ–फिरङ्ग–वायु–पामा–दद्रु–रक्त–पित्त प्रभृतिरोगप्रतीकार (30), 4 धातु–प्रमेह–मूत्रकृच्छ्र–लिङ्गवर्धन–वीर्यवृद्धि–बहुमूत्र प्रभृतिरोगप्रतीकार (26), 5 गुद-रोगप्रतीकार (24), 6 कुष्ठावेष–गुल्म–मंदाग्नि–पांडु-कामलोदररोगप्रभृतिप्रतीकार (26), 7 शिरःकर्णाक्षिभ्रममूर्च्छा–संधिवात-ग्रन्थि-वातरक्त पित्तस्नायुकादिप्रभृति–प्रतीकार (42), 8 पाक–गुटिकाद्यधिकार–शेषरोगनिरूपण–सन्निपात हिक्का-जानुकम्पादिप्रभृति-प्रतीकार (40)।

इसमें रोगानुसार योगो का संग्रह है। सब योग अनुभूत, सरल और छोटे हैं। उष्णवात–मूत्रकच्छ्र में शोरा चीनी के साथ देना, क्रिमिरोग में महानिम्बपत्रस्वरस का सेवन, आदि योग द्रष्टव्य हैं। श्वेतप्रदर को स्त्रियों का 'धातुरोग' (2/17) कहा गया है। सोरे (4/16) का सूर्यक्षार नाम लिखा है। कुछ रसयोग भी दिये हैं—जैसे इच्छा भेदी, सर्वकुष्ठारि आदि। हर्षकीर्तिसूरि के 'योगचिन्तामणि' से भी कुछ योग लिये गये हैं 'मखे मखमुजां गणं किल निमन्त्र्य दक्षःपुरा' आदिवचन इसमें भी मिलते हैं।

ग्रन्थ के अन्त में 'ज्वरातिसारनाशकगुटिका' 'मुरादिशाह' द्वारा निर्मित होने का उल्लेख है—

'क्षौद्रेण वा पत्ररसेन कायां ज्वरातिसारामयनाशिनी गुटी।
रूपाग्निबलवीर्यवर्द्धनी 'मुरादिसाहेन विनिर्मिता स्वयम् ।।40।।

यह मुरादशाह औरंगजेब का भाई था, जो 1661 ई. में मारा गया था।

शीघ्र ही यह ग्रन्थ लोकप्रिय हो गया था। इसकी लोकप्रियता इस तथ्य से ज्ञात होती है कि इस ग्रंथ की रचना के तीन वर्ष बाद अर्थात् सं. 1729 में मेघभट्ट नामक विद्वान् ने इस पर संस्कृत टीका लिखी थी, इसकी पुष्पिका में लिखा है—

'वि.सं. 1729 वर्षे भाद्रपदमासे सिते पक्षे भट्टमेघविरचितसंस्कृतटीकाटिप्पणी-सहितः संपूर्णः।' यह टीकाकार शैव था। इसके प्रपितामह का नाम नागरभट्ट, पितामह का नाम कृष्णभट्ट तथा पिता का नाम नीलकण्ठ दिया है।

मेघ की संस्कृत टीका के अतिरिक्त इस पर हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती में अनेक स्तबक और विवेचन लिखे गये हैं।

2 **वन्ध्या कल्प चौपाई—**

नागरीप्रचारिणी सभा के खोज विवरण पृ. 33 पर इनकी इस रचना का उल्लेख है। इसके अन्तिम भाग में 'कहिं कवि हस्ति हरिनों दास" लिखा है। अतः संभवतः यह किसी अन्य की रचना प्रतीत होती है।

'हस्तिरुचि गणि' के अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं। मो.द. देसाई ने 'जैन साहित्यनो इतिहास' (पृ. 664 पर) इनका ग्रन्थप्रणयनकाल सं. 1717 से 1739 माना है।

इन्होंने 'षडावश्यक' पर वि. सं. 1697 में व्याख्या लिखी है। [1]

मथेन राखेचा (1671 ई.)

'मथेन' या 'मथेरण' शब्द गृहस्थी बने हुए जैन यति के लिए प्रयुक्त होता है। 'मथेन राखेचा' का विशेष वृत प्राप्त नहीं होता। इसने बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह (1668 से 1699 ई) के आदेश से औरंगाबाद (महाराष्ट्र) में संवत् 1728 जेठ सुदी 7 को पालकाप्य विरचित 'हस्त्यायुर्वेद' या 'गजशास्त्र' पर 'अमर-सुबोधिनी' नामक भाषाटीका लिखी थी। अन्तिम पुष्पिका में लिखा है—

'इति पालकाप्य रिषि विरचितायां तद्भाषार्थ नाम अमरसुबोधिनी नामा भाषार्थ प्रकाशिकायां समाप्ता शुभं भवतु।

सं. 1728 वर्षे जेठ सुदी 7 दिने महाराजाधिराज महाराजा श्री 'अनूपसिंह जी' पुस्तक लिखापितः। मथेन राखेचा लिखितम्। श्री 'औरंगाबाद' मध्ये।'

इसकी हस्तलिखित प्रति अनूपसंस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में सुरक्षित है।

इसमें हाथियों के प्रकार, उनके रोगों व चिकित्सा का विवरण दिया गया है।

---

1 **जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 230 पर पादटिप्पणी।**

भाषा–टीका का नमूना देखिए—

"इनके वंश के तिनके भेद। जु पांडुर वर्ण होइ। भूरे केस। नखछवि पूछ होइ। धीर होइ। रिस कराई करे। सु एरापति के वंस को। आगी ते काहू ते न डेर (डरे?) नहीं। दांत सेत। आगिलो ऊंचो गात्र। मरेताई छवि। राते नेत्र। सेत सुवेदा। सु पुंडरीक के वंस को जानिवे।"

हेमनिधान (1676 ई.)

यह खरतरगच्छीय थे और संभवतः बीकानेर के निवासी थे।

इन्होंने 'सन्निपातकालिका–स्तबक' टीका की रचना की थी। इसका रचनाकाल सं. 1733 (1676 ई.) है। इसकी हस्तप्रति जिनचारित्रसूरि भंडार बीकानेर और रा. प्रा. वि. प्र. बीकानेर में है।

नयनशेखर (1679 ई.)

यह गुजरात के निवासी थे। मोहनलाल दलीचंद देसाई ने लिखा है—'वैद्यक विषय पर अब तक गुजराती भाषा में किसी ने पद्यमय रचना नहीं की थी, जो इस शतक (विक्रमी 18वीं शती) में 'नयनशेखर' ने सं. 1736 में 'योगरत्नाकर' चोपई रचकर पूर्ण की।'[1]

नयनशेखर श्वेतांबर जैन–परम्परा की आंचल (अंचल) गच्छ की पालीताणी शाखा के ज्ञानशेखर के शिष्य थे। विजयचंद उपाध्याय द्वारा जिस विधिपक्षगच्छ की स्थापना की गई थी, उसी का नाम 1166 ई. में कुमारपाल के काल में आंचलगच्छ हुआ। इस गच्छ में अमरसागरसूरि नामक मुनि बहु–सम्मानित युगप्रधान विरुदधारी और राज्य–सम्मान–प्राप्त हुए। उन्होंने पालिताचार्य के नाम पर पालीताणी शाखा चलाई। ग्रंथ के अन्त में नयनशेखर ने अमरसागरसूरि का परिचय इस प्रकार दिया है—

'श्री 'अंचलगच्छि' गिरुआ गच्छपती, महा मुनीसर मोटा यती।
श्री 'अमरसागर सूरीसर' जांण, तप तेजई करि जीपई भाण ॥92॥
सुविहित गच्छतणा सिणगार, जीणंई जीत्यु काम विकार।
मोहराय मनाव्यो हारि, कषाय दूरंई कीधा चार ॥93॥
आचार्यना गुण छत्रीस, तिणि करि सोहई विसवावीस।
युगप्रधान विरुद जेहनई, राय 'राणा' मानई तेहनई ॥94॥
तास तणई पषि शाखा घणी, एक एक मांहि अधिकी भणी।
पंच महाव्रत पालई सार, इसा अछई जेहना अणगार ॥94॥

---

[1] मो. द. देसाई, जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, (गुजराती, 1933) पृ. 669

ते शाखामांहि अति भली, 'पालीताणी शाखा' गुण निली।
'पालिताचार्य' कहीई जेह, हूआ गच्छपति जे गुणगेह ॥95॥

इसके बाद इस शाखा के पुण्यतिलकसूरि से स्वयं लेखक (नयनशेखर) तक की परम्परा दी गई है।

इनकी वैद्यक पर 'योगरत्नाकर चोपई' नामक कृति मिलती है। यह अप्रकाशित है। यह ग्रन्थ गुजराती भाषा में चोपई छंद में लिखा हुआ है। इसकी रचना सं 1736 (1679 ई.) श्रावण शुक्ल 3 बुधवार को पूर्ण हुई थी—

'संवत सतर छत्रीसई' जांणि, उत्तम श्रावण मास वखांणि।
सुकलपक्ष तिथि त्रीतिया वली, बुध्धवारई शुभवेला भली॥' (91, ग्रंथांत)

देसाई ने भावनगर के श्री कस्तुरसागरजी भंडार की हस्तलिखित प्रति (लि. का. सं. 1836) का उद्धरण दिया है।[1] इस ग्रंथ में 141 पत्र और 9000 श्लोक हैं। वैद्यक पर यह चोपई बद्ध उत्तम विस्तृत कृति है।

महिमसमुद्र (जिनसमुद्रसूरि (1680 ई. के लगभग)

यह श्वेताम्बर की बेगड़शाखा के जैनयति (भट्टारक) थे। यह श्रीमालजातीय शाह हरराज और लखमादेवी के पुत्र थे। इनका निवास मारवाड़ क्षेत्र (जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर) में कहीं था। इनका जन्म सं. 1670 के लगभग हुआ था। इनकी दीक्षा सं. 1682 के लगभग हुई थी। दीक्षावस्था में साधु पद का नाम 'महिमसमुद्र' था। इनके गुरु 'जिनचन्द्रसूरि' थे। सं. 1713 में 'श्वेताम्बरी बेगड़गच्छ' के आचार्य 'जिनचन्द्रसूरि' का स्वर्गवास होने पर ये उनके पट्टधर 'आचार्य' बने और उनतीसवर्ष तक गच्छ का नेतृत्व किया। तब इनका नाम 'जिनसमुद्रसूरि' प्रसिद्ध हुआ। सं 1741 कार्तिक सुदि 15 को वर्द्धमपुर में 70 वर्ष की आयु में इनका स्वर्गवास हुआ। अपने दीर्घकालीन जीवन में इन्होंने जोधपुर, सिंध, जैसलमेर आदि क्षेत्रों में अनेक स्थानों पर विहार किया। बताया जाता है कि इन्होंने अपने जीवनकाल में सवा लाख श्लोक प्रमाण ग्रन्थ रचे थे। नाहटाजी ने इनके छोटे-बड़े 35 ग्रंथों का उल्लेख किया है। इनका रचनाकाल सं. 1697 से 1740 तक है। इनके ग्रन्थों की प्रतिलिपियां मुख्यतया जैसलमेर के भंडारों में प्राप्त हुई हैं। इनके सम्प्रदाय के साधुओं की मुख्य गद्दी जैसलमेर में ही है। इस विशाल साहित्य से इनके गम्भीर और बहुमुखी ज्ञान तथा कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है। बेगड़गच्छ में सं. 1726 में जिनसमुद्रसूरि से नयी शाखा चली। इनको जैसलमेर के रावल अमरसिंह ने 'मानपटोली' और 'उपाश्रय' प्रदान

---

[1] जैनगुर्जर कविओ, भाग 2, पृ. 351

किया था। इनके शिष्य महिमहर्ष आदि हुए।[1]

इनकी रचनाओं की भाषा राजस्थानी अर्थात् (मरुभाषा मिश्रित हिन्दी) है। प्रारंभिक रचनाओं में 'महिमासमुद्र' नाम और बाद की रचनाओं में जिनसमुद्रसूरि' नाम मिलता है। यह मुगल बादशाह शाहजहां के समकालीन थे। 'नारीगजल' में वह लिखते हैं—

'पातिसाहि सहर 'मुलतान' दिसे जरकां का थांन।
कायम राजा 'साहजहांन' ज्यां जाणे सम्मो भाण ॥4॥
'महिमासमुद्र मुनि' इल्लोल, कीधा कछु कवि कल्लोल।
सुणकद सुख पावइ छयल, हीं हीं हसइ मुग्धि बयल ॥40॥

सं. 1730 में इन्होंने जैसलमेरगढ़ में 'तत्वप्रबोधनाटक' लिखा था। उसकी पुष्पिका में लिखा है—"इति श्री तत्वबोध नाम नाटकं संपूर्णम् श्री वेगडगच्छाधीश भट्टारक श्री जिनसमुद्रसूरिभिः कृतं सं. 1730 कार्तिक्यां सित पंचम्यां गुरौ श्री जैसलमेरुगढ़ महादुर्गे। महानंदराज्ये श्रीः। श्रीः श्रीः।"

इनके द्वारा भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' पर विस्तार से 'अपभ्रंश' (राजस्थानी-हिन्दी) में रचित 'सवार्थसिद्धि मणिमाला' नामक टीका का चतुर्थप्रकाश मिलता है। "अब श्री वैराग्यशतक कैं विषैं तृतीयप्रकाश' वखान्यौ तो अब अनंतरि 'चोथाप्रकाश गुवालेरी' भाषा करि वखानता हूं। प्रथम शास्त्रीक षद्भाषा छोडि करि या 'अपभ्रंश' भाखा वीचि अैसा ग्रन्थ की टीका करणी परी।" इसके अन्त में इन्होंने बताया है कि इसकी रचना वेगडगच्छ के शिष्य-प्रशिष्यों की अर्थसिद्धि के लिए की गई है—

"महावैराग्यकारणं सुभाषं सुगमं चक्रे श्रीसमुद्राद्यंतसूरिणा ॥6॥
× × प्रोद्यत्श्री वगेडाख्यागगनदिनमणिनां गणीनां सुशिष्यैः शिष्यानामर्थसिध्यै।
जिनदधिरविभिः शोधनीयानि विद्भिः ॥7॥

इसके आगे इनकी गुरु-शिष्य-परम्परा का उल्लेख मिलता है—

"इति श्री श्वेतांबरसूरि'शिरोमणिनां परमाव्यर्हच्छासन गगनां दिनमणिनां 'भट्टारक श्री जिनेश्वरसूरि' सूरीणां पट्टे युगप्रधान पूज्य परम पूज्य परमदेव 'श्रीजिनचन्द्रसूरीश्वराणां' शिष्येण 'भट्टारक श्रीजिनसमुद्रसूरिणा' विरचितायां 'श्रीभर्तृहरि' नाम 'वैराग्यशतक' टीकायां 'सर्वार्थसिद्धिमणिमालायां' 'चतुर्थप्रकाशोयं' समाप्त:।"

इसका रचनाकाल सं. 1740 (1683 ई.) कार्तिक शुक्ल 15 पूर्णिमा, 'साहस्यबादे कर्णपुरे' दिया है। ग्रंथांत में गच्छ, गच्छनायक आदि के संबध में संस्कृत गद्य में विवरण दिया है।

---

[1] अगरचन्द नाहटा, 'राजस्थानी भाषा के दो महाकाव्य' शीर्षक लेख, राजस्थानी, 2, कलकत्ता, पृ, 45-47।

वैद्यक पर जिनसमुद्रसूरि की एक ही कृति मिलती है - 'वैद्यकचिंतामणि' ।

वैद्यकचिंतामणि —

ग्रंथारम्भ में गुरु और भारती को नमस्कार किया गया है। ग्रन्थ के अन्य नाम 'वैद्यकसारोद्धार और 'समुद्रसिद्धांत' या 'समुद्रप्रकाशसिद्धांत' भी दिये गये हैं। यह एक संग्रहग्रन्थ है ! अनेक वैद्यकग्रन्थों का मन्थन कर यतियों के उपकार हेतु इस ग्रन्थ की 'भाषा में रचना की गयी है। ग्रन्थकार ने चरक, सुश्रुत, वाग्भट, शार्ङ्गधर, आत्रेय, योगशतक आदि ग्रंथों का अवलोकन व अध्ययन किया था।

'यति उपकार तणी हिदै, धरी आण चित्त चूंप ।
रचौं वैद्य के काज कों, वैद्यक ग्रन्थ अनूप ।।6।।
वैद्य ग्रन्थ पहिली बहुत हैं पिण संस्कृत वाणि ।
तातइं मुग्ध प्रबोधउं, भाषा ग्रन्थ बखांणि ।।7।।
'वाग्भट सुश्रुत चरक', फुनि 'सारंधर' आत्रेय ।
'योगशतक' आदिक वली, वैद्यक ग्रंथ अमेय ।।8।।
तिन सविहुंन को मथन करि, दधि तैं ज्युं घृतसार ।
ज्यों रचिहुं सम शास्त्र तें, 'वैद्यकसारोद्धार' ।9।।
परिपाटी सवि वैद्यकी, आमनाय सशुद्धि ।
'वैद्यचितामणि' चोपई, रचहूं शास्त्र की बुद्धि ।।10।।
रोगनिदान चिकित्छका, पथ्य क्रियादिक तंत ।
नाम धरयो इन ग्रन्थ को, 'श्रीसमुद्रसिद्धंत ।।11।।

इसमें रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा का विवरण है। ग्रन्थ चोपई छंद में लिखा गया है। सर्वप्रथम तीन प्रकार के देशों का वर्णन किया गया है।

इसकी हस्तलिखित प्रति जैसलमेर के बड़े भंडार में सुरक्षित है। यह प्रति अपूर्ण है। मध्य में अध्यायांत पुष्पिका इस प्रकार मिलती है—

"इति श्री 'समुद्रप्रकास' सिद्धान्ते विद्या विलास चतुष्य दिकायां वर्षा रि. समाप्त-मिति।" ग्रंथ कण्ठरोग, तालुरोग, कपालव्यथा आदि के वर्णन के साथ समाप्त हो जाता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पार्श्वनाथ की वंदना है—

'श्रीगोडी फलवद्धिपुर', आदिक तीरथ जास ।
'पार्श्वप्रभू' पृथिवी प्रसिद्ध, पूरण वांछित आस ।।2।।

इनके गुरु जिनचन्द्रसूरि के गुरु जिनेश्वरसूरि का उल्लेख भी मिलता है—

'सगुरु 'जिनेश्वरसूरि' पद नायक 'जिणचंदसूरि' ।
ताके चरण कमल नमूं, धर चित्त आणंद पूरि ।। 5 ।। (प्रारम्भ)

धर्मवर्द्धन या धर्मसी (1683 ई.)

धर्मवर्द्धन का जन्म नाम 'धर्मसी' या 'धर्मसिंह' था, जो उनकी अनेक रचनाओं में मिलता है। दीक्षा होने पर इनका नाम 'धर्मवर्द्धन' रखा गया। इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र में इनका जन्म होना ज्ञात होता है। क्योंकि भ्रमण और विहार इसी क्षेत्र के अनेक ग्रामों और नगरों में हुआ था। इनका जन्म सं. 1700 के लगभग हुआ था और दीक्षा सं. 1713 में खरतरगच्छ के आचार्य जिनचंद्रसूरि के द्वारा हुई थी। तब इनका धर्मवर्द्धन नाम रखा गया और इनको मुनि विजयहर्ष का शिष्य बना दिया गया था। अपने विद्यागुरु विजयहर्ष के पास रहकर इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया।

इन्होंने अपनी रचनाओं में अपनी गुरु–परम्परा इस प्रकार लिखी है—

जिनभद्रसूरि शाखा के उपाध्याय साधुकीर्ति – साधुसुंदर— वाचक विमलकीर्ति—विमलचन्द्र— विजयहर्ष— धर्मवर्द्धन। साधुकीर्ति का काल सं. 1611 से 1642 है। यह अकबर के समकालीन थे।

सं. 1740 में दीक्षागुरु जिनचन्द्रसूरि ने धर्मवर्द्धन को 'उपाध्याय' पद प्रदान किया। बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह इनसे बहुत प्रभावित थे। संभवत: इनको राज्य–सम्मान प्राप्त था।

दीक्षा के बाद धर्मवर्द्धन अधिकांश काल तक गच्छनायक 'जिनचंद्रसूरि' और उनके स्वर्गस्थ होने पर गच्छनायक पद पर आसीन 'जिनसुखसूरि' के पास 'रिणी' (बीकानेर क्षेत्र में) रहे। इसके बाद बीकानेर में आकर रहने लगे। यहीं सं. 1783–84 में इनका स्वर्गवास हो गया। बीकानेर के रैलदादाजी (गुरुमंदिर) में सं. 1784 की बनी हुई इनकी छत्री विद्यमान है।

इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। संस्कृत, राजस्थानी और हिन्दी में इनकी रचनाएं मिलती हैं। सिंधी में भी दो स्तवन हैं।[1] इनके ग्रंथों का संपादन अगरचन्द नाहटा ने 'धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली' में बीकानेर से सं. 2017 में किया है।

वैद्यक पर इनकी 'डंभक्रिया' नामक कृति उपलब्ध है।

डंभक्रिया—

यह अग्निदाह प्रक्रिया पर 21 पद्यों में विरचित छोटी सी रचना है। अग्नि से दाह करने (डामने) की क्रिया आयुर्वेद की शल्यचिकित्सा का अन्यतम भाग है। गांवों

---

[1] –जैन गुर्जर कविओ, भाग 2, पृ, 339–346

–अगरचन्द नाहटा : राजस्थानी साहित्य और जैनकवि धर्मवर्द्धन, शीर्षक लेख, 'राजस्थानी' वर्ष 2, अंक 2, पृ. 1–22।

–अगरचन्द नाहटा, 'धर्मवर्द्धनग्रंथावली, बीकानेर', सं. 2017।

में आज भी यह प्रचलित है। विभिन्न रोगों में शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर अग्निकर्म करने का विधान मिलता है। इस ग्रन्थ में भी यह क्रिया बतायी गई है। 'डंभ' शब्द 'डामने' या 'डांभने' के अर्थ में है। इसे वाग्भट' के वर्णन के आधार पर भाषा में पद्यबद्ध कर लिखा गया है। इससे ज्ञात होता है कि धर्मवर्द्धन इस प्रक्रिया के ज्ञाता थे और उन्हें अग्नि-कर्म चिकित्सा का अच्छा अनुभव हुआ था। अनेक रोगों में अग्निकर्म कहां और कैसे किया जाता है—इसका इस ग्रन्थ में वर्णन है।
ग्रन्थारम्भ में लेखक ने लिखा है—

'शंकर गणपति सरस्वती, प्रणमुं सब सुखकार।
वैद्यानिके उपकारकुं, अग्निकर्म कहुं सार ॥1॥
जो 'चरकादिक' ग्रन्थ में, विविध कह्यौ विस्तार।
'वाग्भट' तैं मैं कहुं, भाषा बंध प्रकार ॥2॥

इसमें 24 रोगों पर 'दंभक्रिया' बतायी गयी है—(पद्य 3)—1. ज्वर, 2. सन्निपात, 3. अतिसार, 4. संग्रहणी, 5. पांडु 6. गोला, 7. शूल, 8. हृदयरोग, 9. श्वास, 10. कास, 11. रक्तस्राव, 12. शीर्षशूल, 13. नेत्ररोग, 14. उन्मादवात, 15. कटीवात, 16. शीतांगता, 17. मृगीवात, 18. कंपवात, 19. शोफ, 20. उदर, 21. जलोदर, 22. अंडवृद्धि, 23. धनुर्वात आदि।

ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् 1740 (1683 ई.) विजयादशमी दिया है—

'सतरै चालीस 'विजयादशमी' दिनै,
'गच्छ खरतर' जगि जीत सर्व विद्याजिनैं।
'विजयहर्ष' विद्यमान शिष्य तिनके सही,
परिहां, कवि 'धर्मसी' उपगारै 'दंभक्रिया' कही ॥21॥

लक्ष्मीवल्लभ (1684 ई., सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध)

राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र में जैन यति लक्ष्मीवल्लभ का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इनके जन्मस्थान, जन्मसंवत्, वंश, माता-पिता और गृहस्थजीवन का कोई पता नहीं चलता। इनका मूल जन्म का नाम 'हेमराज' तथा काव्य में उपनाम 'राजकवि' था। इनका जन्म सं. 1690 से 1703 के बीच होना माना जाता है। संभवतः इन्होंने सं. 1707 में दीक्षा ली थी। इनकी कृतियों में सर्वप्रथम 'कुमारसंभववृत्ति' का रचनाकाल सं. 1721 मिलता है। इनके शिष्य शिववर्द्धन को सं. 1713 में दीक्षा दी गई थी। इनकी अन्तिम रचना सं. 1747 में हिस्सार (पंजाब) में लिखी हुई मिलती है। इनकी मृत्यु सं. 1780 के लगभग मानी जाती है। इनके शिष्यों में शिववर्धन और हर्षसमुद्र मुख्य माने जाते हैं।

ये मारवाड़ या बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे। इनका सारा समय बीकानेर,

पंजाब आदि क्षेत्रों में विहार करते हुए व्यतीत हुआ था। ये खरतर गच्छीय क्षेमकीर्ति शाखा के लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे।

14वीं शती में खरतरगच्छ में जिनकुशलसूरि प्रभावशाली और प्रतिभावान आचार्य हुए। वे 'दादा जिनकुशलसूरि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके शिष्य उपाध्याय 'विनयप्रभ' हुए। उनके शिष्य उपाध्याय 'विजयतिलक' उनके शिष्य वाचक 'क्षेमकीर्ति' हुए। क्षेमकीर्ति ने खरतरगच्छ में 'क्षेमकीर्ति क्षेमधाड़ी' नामक स्वतंत्र शाखा चलाई। यह क्षेमकीर्तिशाखा भी कहलाती है। क्षेमकीर्ति के शिष्य–परम्परा में क्रमशः उपाध्याय 'तपोरत्न'—उपाध्याय 'तेजराज'—वाचक 'भुवनकीर्ति'—वाचक 'हर्षकुंजर'—वाचक 'लब्धिमंडन'– उपाध्याय 'लक्ष्मीकीर्ति' (इनका जन्म–नाम लक्ष्मीचंद था)—लक्ष्मीवल्लभ हुए।[1]

लक्ष्मीवल्लभ इनका दीक्षा–नाम था। संभवतः सं. 1713 से पूर्व ही आचार्य 'जिनराजसूरि' या 'जिनरत्नसूरि' ने इनको दीक्षित कर उपाध्याय 'लक्ष्मीकीर्ति' का शिष्य बनाया था।

इनकी पचास से अधिक हिन्दी, राजस्थानी और संस्कृत में कृतियां मिलती हैं। काव्यों में इन्होंने अपना उपनाम 'राजकवि' लिखा है। इनका हिन्दी, राजस्थानी और संस्कृत भाषाओं पर अच्छा अधिकार था। यह अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। इनके अनेक विषयों—काव्य, व्याकरण, छंद, भाषाशास्त्र, वैद्यक और धर्म पर लिखे हुए ग्रन्थ मिलते हैं। संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों की टीकाएं भी लिखी हैं।[2]

इनकी अधिकांश रचनाएं सं. 1720 से 1750 के बीच में लिखी हुई हैं।

---

[1] मो. द. देसाई ने 'जैन गुर्जर कविओ' भाग 2, पृ. 243–45 पर लक्ष्मीवल्लभ की गुरु–शिष्य–परम्परा इस प्रकार दी है—

लक्ष्मीकीर्ति—क्षेम (त्र) कीर्ति—सोमहर्ष– लक्ष्मीवल्लभ।

देसाई ने इनके चार ग्रन्थों का विवरण दिया है —(1) रतनहास चोपई सं. 1725, (2) अमरकुमार चरित्ररास, (3) विक्रमादित्य पंचदंडरास सं. 17 7, फा. शु.–5, (4) रात्री भोजन चोपई— सं. 1738 वै. शु. 7, बीकानेर में।

इन्हीं ग्रंथों को नाहटाजी ने उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य लक्ष्मीवल्लभ की कृतियां माना है। (देखें, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग 2, पृ. 158)

[2] मुख्य-टीका ग्रंथ 'उत्तराध्ययनसूत्रवृति', कल्पसूत्र पर 'कल्पद्रुमकलिका', 'कुमारसंभववृति', 'धर्मोपदेशवृति' आदि हैं। अगरचन्द नाहटा ने उनके संस्कृतकाव्य के 13, गद्यभाषा के 1, हिन्दी काव्य 8, सिन्धी भाषा के स्तवन 3, राजस्थानी भाषा के 11, सैद्धांतीय विचार स्तवन 7 और भक्तिपद 25 का उल्लेख किया है (देखें—उनका लेख, 'राजस्थानी भाषा के दो महाकवि', राजस्थानी, 2, पृ, 52–54।

इनकी दो वैद्यक कृतियां मिलती हैं—'कालज्ञान' और 'मूत्रपरीक्षा'। ये दोनों राजस्थानी में पद्यबद्ध रचनाएं हैं।

(1) कालज्ञान भाषा—

यह शंभुनाथकृत संस्कृत के 'कालज्ञानम्' का पद्यबद्ध भाषानुवाद है। अतः भाषा-बंध में लक्ष्मीवल्लभ ने भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में शक्ति, शिव और गणेश की वंदना की है—

'सकति शंमु शंभू-सुतन, धरि तीनों का ध्यान।
सुंदर भाषा बंध करि, करिहुं काल ग्यांन ॥1॥
भाषित 'शंमुनाथ' को, जानत काल ग्यान।
जाने आउ छ मास थे, धुर तैं वैद्य सुजान ॥2॥

प्रारम्भिक पद्यों में ही लेखक ने अपनी गुरु-शिष्य-परम्परा का भी उल्लेख किया है—

'श्री 'जिनकुशलसूरीस' गुरु, भए खरतर प्रभु मुख्य।
'खेमकीर्ति' वाचक भए, तासु परंपर शिष्य ॥71॥
ता साखा में दीपते, भए अधिक परसिद्ध।
श्री 'लक्ष्मीकीर्ति' तिहां, उपाध्याय बहु बुद्धि ॥72॥
श्री 'लक्ष्मीवल्लभ' भए, पाठक ताके शिष्य।
कालग्यान भाषा रच्यो, प्रगट अरथ परतक्ष ॥73॥

इसका रचनाकाल सं. 1741 (1684 ई) श्रावण शुक्ला 15 गुरुवार दिया है—
'चन्द्र1 वेद4 मुनि7 भू1 प्रमित, संवत्सर नभ मास।
पूनिम दिन गुरुवार युत, सिद्धयोग सुविलास ॥70॥'

इसमें पांच समुद्देश (अध्याय) हैं। पुष्पिका में लिखा है—'इति कालग्याने भाषाप्रबन्धे श्री लक्ष्मीवल्लभविरचिते पंचम समुद्देश ॥5॥' इसमें कुल 178 पद्य हैं। यह दोहे, चौपाई, सोरठ छंदों में लिखा गया है। भाषा सरस और सरल है।

लेखक ने वैद्यक-विद्या की प्रशस्ति निम्न पद्यों में लिखी है—

'जग वैद्यक विद्या जिसी, नहीं न विद्या और।
फलदायक परतखि प्रगट, सब विद्या को मोर ॥166॥
रोग-निवारण यह करै, करै धर्म की वृद्धि।
धन की भी प्राप्ति करइ, दुहु लोक में द्वयसिद्धि ॥167॥
वैद्यकतै कहुं धर्म हुइ, कहुं हुइ धन को लोभ।
कहुं कारिज कहुं होइ जस, कहुं प्रीति की शोभ ॥168॥
वैद्यकतैं हुई चतुर पण, बड़ी ठौर सम्मान।
प्रसिद्ध होइ सब देश में, आन न ऐसे ज्ञान ॥169॥

(2) मूत्रपरीक्षा—

यह लघुकृति केवल 37 पद्यों में पूर्ण हुई है। प्राप्त हस्तलिखित प्रति (नवल-नाथजी की बगीची बीकानेर) का लेखन काल 'संवत् 1751 वर्ष कार्तिक वदि 6 दिने श्री बीकानेर मध्ये।' दिया है। अतः इसकी रचना इससे कुछ पूर्व ही होना प्रमाणित होता है।

संभवतः यह रचना भी किसी संस्कृत कृति का राजस्थानी में पद्यमय भाषानुवाद है। ग्रंथ का अन्तिम पद्य देखिए—

'मूत्रपरीक्षा यह कही, 'लच्छि वल्लभ' कविराज।
भाषा बंध सु अतिसुगम, बाल बोध के काज ॥37॥

मानमुनि या मानकवि (1688 ई.)

यह खरतरगच्छीय 'भट्टारक जिनचन्द' की शिष्य परम्परा में वाचक सुमतिसुमेरु के शिष्य थे। यह बीकानेर के निवासी थे। निम्न पंक्तियों में इन्होंने अपना परिचय दिया है—

'भट्टारक जिनचंद' गुरु, सब गच्छ के सिरदार।
खरतर गच्छ महिमानिलो, सब जन कौ सुखकार ॥11॥
जाको गच्छवासी प्रगट, वाचक 'सुमति सुमेर'।
ताको शिष्य 'मुनि मांनजी', वासी 'बीकानेर' ॥12॥ (कविविनोद, ग्रंथारंभ)
'खरतरगच्छ साखा प्रगट, वाचक सुमति सुमेर'।
ताको शिष्य 'मुनि मानजी' कीनी भाषा फेर ॥278॥ (वही, द्वितीय खंड)

इनकी अन्य रचना 'कविप्रमोद' में इन्होंने अपने को सुमतिसुमेरुगणि के भ्राता विनयमेरुगणि का शिष्य लिखा है—

'युगप्रधान जिनचंद' प्रभु, जगत मांहि परधान।
विद्या चौदह प्रगट मुख, दिशि चारो मधि आंन ॥9॥
खरतर गच्छ शिर पर मुकुट, सविता जेम प्रकाश।
जाके देखै भविक जन, हरखै मन उल्लास ॥10॥
'सुमतिसुमेर' वाचक प्रकट, पाठक श्री 'विनैमेर'।
ताको शिष्य 'मुनिमानजी', वासी 'बीकानेर' ॥11॥' (कविप्रमोद, ग्रंथारंभ)
'खरतरगच्छ परसिद्ध जगि, वाचक 'सुमतिमेर'।
विनयमेर' पाठक प्रगट, कीयै दुष्ट जग जेर ॥98॥
ताको शिष्य 'मुनि मानजी', भयो सवनि परसिद्ध।
गुरु प्रसाद के वचन ते, भाषा को नव सिद्ध ॥99॥ (वही, ग्रंथांत)

इसी ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका में लिखा है—

'इति श्री खरतर गच्छीय वाचक श्री सुमति मेरु गणि तद्भ्रातृ पाठक श्री विनैमैरु गणि शिष्य मांनजी विरचिते भाषा कविप्रमोद रस ग्रंथे पंच कर्म स्नेह वृन्तादि ज्वरचिकित्सा कवित्त बंध चौपई दोधक वर्णनो नाम नवमोद्देस: ।।9।।

खरतरगच्छ में 'युगप्रधान जिनचंद्रसूरि' का विशिष्ट स्थान है। (जन्म सं. 1598, दीक्षा सं. 1604, आचार्य सं. 1612, युगप्रधान पद सं. 1649, स्वर्ग. सं. 1670)। जन्मस्थान—तींवरी के पास बडली गांव, स्वर्गवास—बिलाडा (मारवाड)। इनका विहार मारवाड़, गुजरात, पंजाब में रहा। सं. 1648 में मुगल सम्राट अकबर के आमत्रण पर खम्भात से अन्य31जैन साधुओं सहित विहार कर लाहोर में उससे भेंट की। अपने उपदेशों से उसे प्रभावित किया और तीर्थों की रक्षा व अहिंसा प्रचार हेतु अनेक फरमान जारी कराये।

राजस्थानी साहित्य में 'मान' नाम के अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है; किन्तु इनसे भिन्न आयुर्वेदज्ञ 'मान' थे। इनके नाम के साथ 'कवि और मुनि' विशेषण का ही व्यवहार हुआ है।[1]

श्री अगरचन्द नाहटा ने राजस्थानी का प्रसिद्ध शृंगारग्रन्थ 'संयोग द्वात्रिंशिका',[2] जिसे अमरचंद मुनि के अनुरोध पर सं. 1731 में लिखा था, के कर्ता को मानमुनि माना है; भाषाविषयक जो प्रौढत्व संयोगद्वात्रिंशिका' में है, वैसा आयुर्वेद विषयक रचनाओं में देखने को नहीं मिलता। इस ग्रन्थ में लेखक ने अपने को 'मान कवि' कहा है। मुनिमान की वैद्यकग्रन्थों के रचनाकाल और इस ग्रन्थ के रचनाकाल में पर्याप्त अंतराल भी है।

दूसरे 'मान' विजयगच्छीय जैन यति थे। संभवत: ये मेवाड़ के निवासी थे। इन्होंने सं. 1734–40 में मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के संबंध में 'राजविलास' नामक

---

[1] खरतरगच्छ का इतिहास, (सं. अगरचन्द नाहटा), 1959, पृ. 193

[2] इस ग्रंथ के अन्त में लिखा है—

अवि सुराग सुभाषित सुंदर, रूप अगूढ़ सरूप छत्तीसी।
पंच सयोग कहे तदनंतर, प्रीति की रीति बखान तित्तीसी ।।
संवत चंद्र1 समुद्र7 शिवाक्ष3, शशी1 युति वास विचार इत्तीसी।
चैत सिता सु छट्ठि गिर पति, मान रची यु संयोग छ (ब?) त्तीसी ।।2।।

दोहा— अमरचंद मुनि आग्रहै समरभट्ट सरसत्ति।
सगम बत्तीसीरची, आछी आनि उकत्ति ।।73।।

इति श्रीमन्मानकविविरचितायां संयोगद्वात्रिंशिकायां नायका नायक परस्पर संयोग नाम चतुर्थोन्मादः ।।4।। इति संगम बत्तीसी संपूर्णम् ।।

बीररस काव्य का प्रणयन किया था ।[1]

कृतित्व— वैद्यक पर मुनि मानजी की दो रचनाएं मिलती हैं—

(1) कविविनोद (2) कविप्रमोद ।

इनकी अन्य रचना 'वैद्यकसारसंग्रह' भी बतायी जाती है । नागरीप्रचारिणीसभा के 14वें खोजविवरण, पृ. 617 पर इस कृति का उल्लेख है तथा 15वें खोजविवरण पृ, 47 पर लिखा है—"इसी विषय का दूसरा ग्रन्थ 'वैद्यकसारसंग्रह' और मिलता है, जो इन्हीं का रचा जान पड़ता है ।"

(1) कविविनोद (1688 ई.)

यह ग्रन्थ औषधि और रोगों के निदान–चिकित्सा के संबंध में लिखा गया है—

'गुरु प्रसाद भाषा करू, समझ सकै सब कोई ।
ओषद रोग निदान कछु, 'कविविनोद' यह होई ।।5।। (ग्रन्थारम्भ)

यह हिन्दी–राजस्थानी में पद्यबद्ध रचना है । इसकी रचना लाहोर में सं. 1745 (1688 ई.) वैशाख शुक्ला 5 सोमवार को हुई थी—

'संवत सतरहसइ समइ, पैंताले वैशाख ।
शुक्ल पक्ष पंचम दिनइ, सोमवार यह भाख ।।9।।'
'कियो ग्रन्थ 'लाहोर' मइं, उपजी बुद्धि की वृद्धि ।
जो नर राखे कंठ मइ, सो होवै परसिद्ध ।।13।। (ग्रन्थारम्भ)

इस ग्रन्थ में दो खण्ड हैं । प्रथम खंड में औषधिकल्पनाएं – काढ़ा, चूर्ण, गुटी दी गई हैं । योगों का संग्रह किया गया है—

"और ग्रन्थ सब मथन करि, भाषा कहौ बखांन ।
काढ़ा औषधि चूर्ण गुटी करै प्रगट मतिमांन ।।10।। (ग्रन्थारंभ में)

प्रथम खंड के अन्त में लिखा है—

'गुनपानी अरु क्वाथ क्रम, कहे जु आद कै खंड ।
खरतर गच्छ मुनि मांनजी, कियो प्रगट रह मंड ।।165।।

द्वितीय खंड में ज्वर का निदान, चिकित्सा, तेरह प्रकार के सन्निपात के निदान और चिकित्सा का विवरण है—

---

[1] डा. मोतीमाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, प्र. सं. 1948), पृ. 162–163

एक अन्य 'मान' खरतरगच्छीय उपाध्याय शिवनिधान के शिष्य थे । इनके राजस्थानी में कोई ग्यारह ग्रंथ मिलते हैं । इनके ग्रंथों का रचनाकाल सं. 1680 से सं. 1693 दिया हुआ है । अतः ये पूर्ववर्ती थे । रा. हि. ह. ग्र. खोज. भाग 2, पृ. 1?4) ।

'द्वितीय खंड ज्वर की कथा, कही सुगम मति आन ।
समझ परै सब ग्रन्थ की, पढ़े सु पंडित जान ।।27।। (द्वि खं. के अन्त में)

'इति ख. 'मुनि मानजी विरचितायां ज्वर निदान, ज्वर चिकित्सा, सन्निपात तेरह चिकित्सा नाम द्वितीय खंड ।'

यह ग्रन्थ कवित्त, चौपाई, दोहा आदि छंदों में लिखा गया है। भाषा अत्यन्त सरल और सुगम है। रचना शैली सुन्दर है।

(2) कविप्रमोद (1689 ई.)

यह मुनिमान का दूसरा वैद्यक ग्रंथ है। यह बहुत बड़ी कृति है (कुल पद्य 2944)। यह हिन्दी, राजस्थानी में कवित्त, चौपाई और दोहा छंदों में लिखा गया है ('कवित्त छंद दोहे सरस, तां महि कीने जोग' ग्रन्थांत, 96)। इसमें नौ उद्देश्य (अध्याय) हैं।

ग्रंथ का रचनाकाल संवत् 1746 (1689 ई.) कार्तिक शुक्ला 2 है—

'संवत् 'सतर छयाल' शुभ, कातिक सुदि तिथि दोज ।
'कविप्रमोद' रस नाम यह, सर्व ग्रंथनि कौं खोज ।।12।। (ग्रंथारम्भ)

कवियों की संस्कृत वाणी को सामान्य लोग नहीं समझ सकते। इसलिए सुगम भाषा में ललित वाणी में यह रचना कही गयी है—

'संस्कृत वाणी कविनि की, मूढ़ न समझै कोई ।
तातै भाषा सुगम करि, रसना सुललित होइ ।।13।।' (ग्रन्थारम्भ)

यह एक संग्रह ग्रन्थ है। वाग्भट, सुश्रुत, चरक, आत्रेय, खरनाद, भेड के ग्रंथों का सार लेकर इसका प्रणयन किया गया है।

'वाग्भट शुश्रुत चरक मुनि, अरु निबंध आत्रेय ।
खारनाद अरु भेड़ ऋषि, रच्यौ तहां सौ लेय । 92।। (ग्रन्थांत)

इसकी हस्तलिखित प्रतियां नकोदर भंडार पंजाब, पाटण और बीकानेर में उपलब्ध हैं।

इन दोनों ग्रंथों से मुनि मान की गंभीर विद्वता और आयुर्वेद के गहन अध्ययन व अनुभव का परिचय मिलता है।

विनयमेरुगणि (17वीं शती का अंतिमचरण)

यह खरतरगच्छीय जिनचन्दसूरि' शाखा में वाचक 'सुमतिसुमेरु' के भ्रातृ-पाठक थे। इनका काल 17वीं शती (वि. 18वीं शती) ज्ञात होता है। इनके शिष्य 'मुनिमान' ने हिन्दी, राजस्थानी में कविविनोद (सं. 1745) एवं कविप्रमोद (वि. 1746) नामक वैद्यक-ग्रन्थ लिखे हैं। यह बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे।

इनका एक वैद्यकग्रन्थ 'विद्वन्मुखमंडनसा संग्रह' नामक मिलता है। यह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें चिकित्सा के योगों का संकलन है। रा. प्रा. वि प्र. जोधपुर में ग्रन्थ की अपूर्ण हस्तप्रति प्राप्त हुई है। रोगों की चिकित्सा इसका प्रतिपाद्य विषय है। यह संस्कृत पद्यों में है।

अन्य, 'विनयमेरुगणि' (जो खरतर 'हेमधर्म' के शिष्य थे) द्वारा प्रणीत गुजराती, राजस्थानी 'कवयन्नानी चोपई' (सं. 1689) का उल्लेख मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने 'जैन गुर्जर कविओ', भाग 3, खंड 1, पृ. 9.4 पर किया है।

रामचन्द्र (1663 से 1693 ई.)

यह खरतरगच्छीय यति थे। इनके गुरु वाचनाचार्य 'पद्मरंगगणि' थे। पद्मरंग के गुरु 'पद्मकीर्ति' हुए और पद्मकीर्ति के गुरु जिनसिंहसूरि हुए। इनकी बहुत प्रतिष्ठा थी। दिल्ली का मुस्लिम शासक 'सलेमशाह (सलीमशाहसूर)' जिनसिंहसूरि से प्रभावित हुआ था और उन्होंने अपने उपदेशों से बादशाह को दयावान् बना दिया था। उनको मुगल सम्राट 'अकबर' और 'सलीम दोनों द्वारा भी सम्मान प्रदान किया गया था। रामचन्द्र यति 'औरंगजेब' के शासनकाल में मौजूद थे।

अपनी गुरु–परम्परा को लेखक ने निम्न पंक्तियों में स्पष्ट किया है—

'युगवर श्री 'जिनसिंहजी' खरतर गच्छ राजान।
शिष्य भए ताके भले, 'पदमकीर्ति' परधान ।।3।।
ताके विनय 'वणारसी, पदमरंग' गुणराज।
'रामचन्द्र' गुरु देव कों, नीकैं प्रणयें आज ।।4।। (वैद्य विनोद, ग्रन्थारम्भ)

'वैद्यविनोद' के अन्त में रामचन्द्र यति ने 'कविकुलवर्णन चौपईयों' में निम्न वर्णन दिया है—

'गरुआ 'खरतरगछि' सिणगार, जांणै जाकु सकल संसार।
जिनके साहिब श्री 'जिनसिंघ', धरा मांहि हुए नरसिंघ ।।64।।
'दिल्लीपति श्री साहि सलेम', जाकुं मान्यों बहु धरि प्रेम।
बहु विद्या जिनकु दिखलाय, दयावांन कीने पातसाहि ।।65।।
शिष्य भले जिनके सुखकार, 'पदमकीरति' गुण के भंडार।
ताके शिष्य महा सुखदाई, सकल लोक में सोभ सवाई ।।66।।
वाचनाचार्य श्री 'पदमरंग', बहु विद्या जांने उछरंग।
चिर जीवो ध्रू रवि चंद, देख्यां उपजैं अतिहि आणंद ।।67।।

(वैद्यविनोद, ग्रंथांत)

यद्यपि इनके ग्रंथों में इनके निवास स्थान का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता,

तथापि इनके ग्रंथों की उपलब्धि विशेषरूप से राजस्थान में होने से तथा भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने से इनका राजस्थानी होना पुष्ट होता है। यह 'बीकानेर क्षेत्र' के निवासी थे। 'मूलदेव चो,' की रचना सं. 1711 में नोहर में की 'श्रीमाल चो.' सं. 1725 बीकानेर में बनाई।

इनका वैद्यक और ज्योतिष–सामुद्रिक विद्या पर अच्छा अधिकार था। इनके पूर्व गुरु भी वैद्यक में निष्णात थे। इन्होंने वैद्यक पर 'रामविनोद' और वैद्यविनोद' की तथा ज्योतिष–सामुद्रिक पर 'सामुद्रिकभाषा' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इनके 'काव्य' संबंधी चार–पांच ग्रंथ भी मिलते हैं। ये सब ग्रंथ राजस्थानी हिन्दी में पद्यमय हैं। कुछ फुटकर भक्तिपरक पद्य भी मिलते हैं। इनकी सब रचनाएं सं. 1720 से 1750 (1663–1693 ई.) के बीच रची गई थीं।

(1) **रामविनोद**—(सं. 1720—1663 ई.)—यह चिकित्साविषयक ग्रंथ है। मुगल बादशाह औरंगजेब के राज्यकाल में इसकी रचना पंजाब के बन्नु देशवर्ती सक्की नगर (सिंध) में सं. 1720 मिगसर सुदि 13 बुधवार को हुई थी। यह ग्रंथ लखनऊ से प्रकाशित हो चुका है।[1]

यह ग्रंथ पद्यमय सुललित शैली में लिखा गया है। इससे कवि की विद्वत्ता और कवित्व प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। आयुर्वेद के अधिकांश ग्रंथ संस्कृत में हैं। जनसामान्य के लिए संस्कृत भाषा दुरुह है। 'रामविनोद' की रचना में कवि ने चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, वाग्भट, योगचिंतामणि, राजमार्तण्ड, रसचिंतामणि आदि आयुर्वेद के संस्कृत–ग्रंथों का आधार लिया है।

यह ग्रंथ 7 समुद्देशों में पूर्ण हुआ है और इसमें कुल 1981 गाथाएं (दोहा, सोरठ, चौपाई) हैं। ग्रंथ की समाप्ति के बाद भी इसमें 'नाडीपरीक्षा' संबंधी 53 गाथाएं और 'मानप्रमाण' संबंधी 13 गाथाएं दी गई हैं। कहीं–कहीं ये स्वतंत्र रचनाओं के रूप में प्राप्त हैं।

(2) **वैद्यविनोद**—यह ग्रंथ 'शार्ङ्गधरसंहिता का पद्यमय भाषानुवाद (राजस्थानी–हिन्दी में) है। आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से शार्ङ्गधरकृत शार्ङ्गधरसंहिता का अन्यतम स्थान है। यह संस्कृत में है। रामचंद्र यति ने इसका गुरु से अध्ययन किया, फिर भाषा–बन्ध रचा। साधारण जनों के सुख–बोध के लिए लेखक ने इसकी रचना की थी, जैसा कि ग्रंथारंभ में लिखा है—

---

[1] 'मिश्रबन्धुविनोद' (पृ. 466) में रामविनोद का नाम 'रायविनोद' लिखा है। इसके कर्ता रामचंद्र को साकी बनारस का निवासी और पद्मराग का शिष्य बताया गया है। वस्तुतः ग्रंथ का नाम रामविनोद, कर्ता–रामचंद्रयति ने विहार करते हुए सक्की नगर (सिंध) में इसकी रचना की थी। इनके गुरु का नाम पद्मरग था।

'सारंगधर' अति कठिन है, बाल न पावै भेद ।
ता कारण भाषा कहूं, उपजै ज्ञान उमेद ।।5।।
पहिली गुरु मुख सांभली, भाव भेद परिज्ञान ।
ता पीछे भाषा करी, मेटन सकल अग्यांन ।।6।।

इसकी रचना भी पद्यमय है और कवित्त, दोहा, चौपाई, छंदों में विरचित है । अनुवाद होते हुए भी भाषा और विषय की स्पष्टता के संबंध में मौलिकता परिलक्षित होती है ।

विविध रोगों की सुगम चिकित्सा बतायी गयी है और इसी से इसका नाम 'वैद्यविनोद' रखा गया है—

'विविध चिकित्सा रोग की, करी सुगम हित आंणि ।
'वैद्यविनोद' इण नांम धरि, यांमै कीयौ बखाण ।।10।।

ग्रंथांत में भी लिखा है—

''रामचंद्र' अपणी मतिसार, 'वैद्यविनोद' कीनो सुखकार ।
पर उपगार कारण कै लई, भाषा सुगम जो मइ करिदई ।।68।।'

इस ग्रंथ की रचना से पूर्व उसने 'रामविनोद' की रचना की थी, इसका उल्लेख ग्रंथकार ने 'वैद्यविनोद' के अन्त में किया है—

'पहिली कीनौ 'रामविनोद', व्याधि निकंदन करण प्रमोद ।
'वैद्यविनोद' इह दूआ कीया, सज्जन देखि सुखी होइ रहीया ।।60।।

इस ग्रंथ की रचना–समाप्ति सं. 1726 (1669 ई.) बसंत ऋतु में वैशाख पूर्णिमा को हुई थी । उस समय मुगल–शासक औरंगजेब का शासन था ।

'रस6 दृग2 सागर7 शशि1 भयौ, रित वसंत वैसाख ।
पूरणिमा शुभ तिथि भली, ग्रंथ–समाप्ति इह भाख ।।69।।
साहिन साहिपति राजतौ, 'औरंगजेब' नरिंद ।
तास राज में ए रच्यौ, भलौ ग्रन्थ सुखकंद ।।70।।'

उस समय खरतरगच्छ के आचार्यपद पर जिनचंद्रसूरि प्रतिष्ठित थे । लेखक ने लिखा है—

'गच्छनायक है दीयता, श्री 'जिनचंद' राजान ।
सोभागी सिर सेहरौ, वंदें सकल जिहांन ।।71।।' (ग्रंथांत)

इसकी रचना मरोटकोट (बीकानेर राज्य) में हुई थी ।

'मरोटकोट शुभ थान है, वशै लोक सुखकार ।
ए रचना तिहां किन रची, सबही कुं हितकार ।।72।।'

ग्रंथ की पुष्पिका में ग्रंथकार ने अपने गुरु पद्मरंगणि का विशेषण 'वणारस' (?) बताया है—

'इति श्री वणारस पद्मरंग गणि शिष्य रामचंद विरचिते श्री वैद्यविनोदे नेत्रप्रसादन कल्प समाप्त। इति श्री वैद्यविनोद संपूर्ण। ग्रंथ संख्या 3700।'

इस ग्रंथ में तीन खंड हैं। इनमें क्रमशः 7, 13 और 13 अध्याय हैं। प्रत्येक खंड में पद्यसंख्या क्रमशः 456, 1292, 770 है। कुल 2525 पद्य हैं या 253 गाथाएं है। कवित्त दोहा, चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है।

दानसागर भंडार बीकानेर में इसकी सं. 1820 फा. सु. 6 की हस्तलिखित प्रति मौजूद है।

(3–4) नाड़ीपरीक्षा और मानपरिमाण—

रामचंद्रयति की ये दोनों रचनाएं पृथक् से भी मिलती हैं। किन्तु रामविनोद की किसी–किसी हस्तप्रति में मानपरिमाण के पद्य उसी में सम्मिलित मिलते हैं। अतः ये दोनों रचनाएं स्वतंत्र न होकर 'रामविनोद' के ही अंश या पृथक्–पृथक् अध्याय हैं।

'नाड़ीपरीक्षा' में कुल 45 पद्य हैं। भाषा राजस्थानी–हिन्दी है। अंतिम पद्य इस प्रकार है—

'सौम्य दृष्टी सुप्रसन्न भालीयै, प्रकृति चित्त इहु दुख सहू की रालीयै।
शीघ्र शांति होइ रोग सदा सुख संदही, 'नाडि परीक्षा' एह कही 'रामचंदही ॥45॥'

'मानपरिमाण' में कुल 13 पद्य हैं।

(5) सामुद्रिक भाषा (1665 ई.)

शारीरिक लक्षणों को देखकर आयु का निर्धारण करने का विधान आयुर्वेद में बताया गया है। इसी प्रकार शारीरिक लक्षणों से व्यक्ति के भाग्य, भविष्य, सुख दुःख, व्यवहार आदि का ज्ञान किया जाता है। इस प्रकार सामुद्रिकविद्या आयुर्वेद और ज्योतिष दोनों से संबंधित है। इसमें स्त्री और पुरुष के पृथक् से लक्षणों का विचार किया जाता है। ये लक्षण मस्तक से पैरों तक देखे जाते हैं। ग्रन्थारंभ में सरस्वती वन्दना करते हुए सामुद्रिक शास्त्र का विषय लेखक ने बताया है—

'सरसति समरूं चित्त धरि, सरस वचन दातार।
'नरनारी लक्षन' कहुं, 'सामुद्रक' अनुसार ॥1॥
'सामुद्रक' ग्रन्थ में कहे, आगम नियम की बात।
इसह जांण जो नर हुवइ, ते होई जग विख्यात ॥2॥
आदि अन्त नर नार की, सुख दुःख वात सरूप।
कुहं अनेक प्रकार विध, सुणो एकंत अनूप ॥3॥
प्रथम पुरुष लक्षण सुणों, मस्तक पाद पर्यन्त।
छत्र कुंभ सम सीस जसु, ते हुवै अवनी–कंत ॥4॥'

इस ग्रन्थ की रचना 'वितस्ता' नदी के किनारे 'मेहरा' (पंजाब) नामक स्थान पर मुगल शासक 'औरंगजेब' के शासनकाल में हुई थी। रचनाकाल सं. 1722 (1665 ई.) माघ कृष्णा 6 दिया है—

'वनवारी बहु बाग प्रधान, बहै 'वितस्था' नदी प्रधान ।
च्यार रण तिहां चतुर सुजान, नगर 'मेहरा' श्री युगप्रधान ।।88।।
बड़े बड़े पातिसाह नरिंदा, जाकी सेव करे जन कंदा ।
'पातिसाह श्री ओरङ्ग गाजी, गये गनीम दसो दिस भाजी ।।89।।
जाकै राज ग्रन्थ ए कीनै, संस्कृत शास्त्र सुगमकरि दीनै ।
'संवत् सतरै से बावीसा', माघ कृष्ण पक्ष छठि जगीसा ।।90।।

यह संस्कृत 'सामुद्रिक' ग्रंथ का भाषा में पद्यानुवाद है ।

ग्रन्थ के अन्त में गुरु-परंपरा दी गई है ।

इसमें कुल 211 पद्य और दो 'प्रकाश' हैं । प्रथम-प्रकाश में नरलक्षण 117 पद्यों में तथा द्वितीय प्रकाश में नारीलक्षण 94 पद्यों में बताये गए हैं ।

इसकी पूर्ण हस्तप्रति जिनहर्षसूरि भंडार बीकानेर में सुरक्षित है ।

ज्ञानमेरु (17वीं शती)

यह खरतरगच्छीय 'महिमसुन्दर' के शिष्य थे । इनका काल वि. 17वीं शती है ।

इनका लिखा 'माधवनिदान' पर 'स्तबक' (टीका) प्राप्त है । इसकी हस्तप्रति दानसागर भंडार, बीकानेर में मौजूद है ।

नगराज (17वीं शती ई.)

इनका विशेष परिचय नहीं मिलता । संभवतः ये बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे ।

इन्होंने 'सामुद्रिक शास्त्र भाषाबद्ध' ग्रन्थ की रचना की है । इसमें 188 पद्य हैं । इसे अजयराज को समझाने के लिए लिखा गया है । अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में इसकी संवत् 1774 (1717 ई.) लिपिकाल वाली हस्तप्रति मौजूद है । अतः इसका रचनाकाल कुछ पूर्व का होना चाहिए । पहले 121 पद्यों में नरलक्षण और बाद में 67 पद्यों में नारीलक्षण दिये हैं ।

अन्त में लिखा है—

'सुगुन सुलच्छन सुमति सुभ, सज्जन को सुख देत ।
भाषा 'सामुद्रिक' रचों, 'अजेंराज' के हैत ।।66।।'

पीताम्बर (1702 ई.)

यह विजयगच्छीय आचार्य विनयसागरसूरि के शिष्य थे । विनयसागरसूरि अच्छे

उपदेशक और रससिद्ध कवि थे। ये महाराणा राजसिंह के समय (1652-1680 ई.) में विद्यमान थे। इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। इनके अनेक प्रयोग मिलते हैं। ये प्रयोग प्राकृत में गुटकों में संकलित हैं। इसलिए इनके लिए 'वैद्यविद्याविशारद' विरुद प्रयुक्त हुआ है। इससे इनका अच्छा चिकित्सक होना ज्ञात होता है। उनकी शिष्यपरंपरा के मुनि मोहन द्वारा लिखे गए एक पद्य से ज्ञात होता है कि उनका जन्म कुलीन विप्रवंश में हुआ था, उनके पिता का नाम गोकुल और माता का लखमादेवी था। इनका उदयपुर (मेवाड़) से घनिष्ठ संबंध रहा। महाराणा राजसिंह का मंत्री और प्रसिद्ध वीर दयालदास विजयगच्छ का उपासक होने से विनयसागरसूरि का अनुरागी था। दयालदास ने राजसमुद्र (कांकरोली) के विशाल तालाब की पाल पर पहाड़ी की चोटी पर भगवान ऋषभदेव का भव्य मन्दिर बनवाया था।

महाराणा राजसिंह का काल मेवाड़ के सांस्कृतिक इतिहास में 'स्वर्णकाल' माना जाता है। इस काल में यहां साहित्य, संगीत, शिल्प और चित्रकला का विशिष्ट विकास हुआ। सं. 1725 में जब औरंगजेब ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो मेवाड़ को दुर्दिन देखने पड़े।

पीतांबर का लिखा हुआ एक गुटका (योग संकलन) मिलता है, जिसका नाम 'आयुर्वेदसारसंग्रह' है। परीक्षित प्रयोगों को सरल लौकिक भाषा में प्रस्तुत करना इस संकलन का प्रयोजन है। यह मेवाड़ी गद्य में लिखा गया है। 17वीं शती ई. के काल के भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के लिए इसका बहुत महत्व है। इसमें मेवाड़ी भाषा और गद्य का अच्छा नमूना प्राप्त होता है।

इसमें अनेक पारंपरिक अनुभवसिद्ध कुशल चिकित्सकों और व्यक्तियों के योग संगृहीत हैं। विशेषता यह है कि जिनसे योग प्राप्त हुए थे, उनके नाम भी निर्दिष्ट हैं जैसे 'ऋषि खिमसी, जोशी भगवानदास, ठाकुरशी नाणावाल, बालगिरि आदि। ठाकरसी नाणावाल और जोशी भगवानदास—ये दोनों उस काल के उदयपुर में विख्यात चिकित्सक और रसायन शास्त्री 'गुसांई भारती' के शिष्य थे। ये राजवैद्य थे। जोशी भगवादास, सुखवाल गोत्र के ब्राह्मण थे। इनका एक वृहद् गुटका मुनि कांतिसमार को प्राप्त हुआ था, जिसमें उन्होंने स्वयं को राजवैद्य और गोसांई भारती का शिष्य लिखा है। इस गुटके में ठाकुरसी नाणावल के भी अनेक प्रयोग दिये हैं। प्रयोगों के साथ इस प्रकार की प्राप्ति-सूचना और प्रयोगकर्ता के नाम की सूचना से उनकी विश्वसनीयता प्रमाणित होती है। 'गुसांईभारती' के अन्य शिष्य ताराचन्द सुत—हृदयानन्द जोशी द्वारा विरचित आयुर्वेद का एक ग्रन्थ मिलता है। (देखें मुनि कांतिसागर का लेख 'आयुर्वेद का अज्ञात साहित्य' मिश्रीमल अभिनंदन ग्रन्थ, पृ 300-317)। हृदयानन्द मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के आश्रित थे। आयुर्वेदसारसंग्रह के सभी प्रयोग वानस्पतिक हैं, जो प्राय: सर्वत्र सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। रोगानुसार इनका संकलन होने से लेखक की विषय संबंधी गम्भीरता का सूचक है।

अनेक बार परीक्षण कर उनका संग्रह किया गया होगा। यह ग्रंथ उदयपुर में रचा गया था, अतः इसमें उदयपुर के आसपास मेवाड़ क्षेत्र में होने वाली अनेक वनस्पतियों का भी प्रयोग—व्यवहार बताया गया है। 'गांठिया भड' नामक वनौषधि मेवाड़ में होती है। इसकी अन्यत्र उत्पत्ति दुर्लभ है। यह उदयपुर के उत्तर में 14 मील दूर एकलिंगजी के निकट राष्ट्रसेना (रायसेनजी) की और आसपास की पहाड़ियों पर अधिक मिलती है। इसका वातनाशक और अस्थिसंधानक ओषधि के रूप में प्रयोग यहां प्राचीनकाल से प्रचलित है। किसी भी पशु या मनुष्य की हड्डी टूट जाने पर इसे पीसकर तीन दिन पिलाने से टूटी हुई हड्डी तीन दिन में ही जुड़ जाती है।

इनमें संकलित प्रयोगों में से कुछ मेवाड़ के राजघराने में प्रचलित रहे। लेखक ने 'धातुस्तंभन' प्रयोगों में 'सिंहवाहनी गुटिका' का प्रयोग लिखा है, जिसे 'महाराणा कुंभा' सेवन करते थे। यद्यपि द्रव्यगुणविज्ञान की दृष्टि से इसमें साधारण द्रव्य ही पड़ते हैं, परन्तु गुण की दृष्टि से यह गुटिका अत्यंत प्रभावकारी सिद्ध हुई है। इसी प्रकार 'राजा जगन्नाथ' की 'कामेश्वर गुटिका' भी वर्णित है।

राजा—रईस और अन्य व्यक्ति शत्रु के लिए विषप्रयोग करते थे। विशेषकर मंद विष भोजन आदि में खिला देते थे। इसमें बाघ की मूंछ का बाल मुख्य माना जाता था। इसके लिए इस विष के लिए 'बाघ बाल विष नाश' के प्रयोग भी दिए हैं।

तत्कालीन प्रचलित मानों—मासा, तोला, कर्ष आदि का भी इसमें वर्णन है। लेखक के समसामयिक महाराणा राजसिंह और उसके पीछे तक मेवाड़ में शेरशाहसूरि के सिक्कों का प्रचलन रहा। इसी प्रकार 'द्रम्म' आदि सिक्के भी चल रहे थे। इस ग्रन्थ के प्रयोगों में परिमाण रूप में इन सिक्कों का उल्लेख किया गया है।

इस गुटके (संकलन) का नाम स्वयं लेखक ने 'आयुर्वेदसारसंग्रह' रखा है। इसका रचनाकाल सं. 1759 (1702 ई.) है, जैसा ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है—

"सं. 1759 वर्षे श्रीश्रीविधिपक्षे (? विजयगच्छे) श्री भट्टारक श्रीमद् ।। 8 विनयसागर-सूरिजी.........तिथौ शुक्रवासरे, लिपिकृतं पीतांबरजी उदयपुर नगरे राजाधिराज.........राज्ये आयुर्वेदसारसंग्रह संपूर्णम्।"

इसकी मूलप्रति मुनि कांतिसागर को प्राप्त हुई थी। इस ग्रंथ को गुजराती में भाषांतर कर उन्होंने 'आयुर्वेदना अनुभूत प्रयोगो' नाम से ई. 1968 में पालीताणा (गुजरात) से प्रकाशित कराया है।

जोगीदास मथेन या 'दासकवि' (1705 ई.)

यह बीकानेर के रहने वाले श्वेतांबर जैन थे। इनके पिता का नाम जोशीराय

(जोसीराय) मथेन (मथेरण) था, जो महाराजा अनूपसिंह के काल में लेखक के रूप में प्रसिद्ध रहे। इनको महाराजा अनूपसिंह से राज्यसम्मान प्राप्त हुआ था।

जोगीदास ने 'दासकवि' नाम से रचनाएं की हैं। यह भी मथेन' थे। गृहस्थी बने हुए जैनयति को मथेन या मथेरण कहते हैं। वरसलपुर के गढ़ की विजय (संवत् 1767 और 1769 के बीच) के प्रसंग पर महाराजा सुजानसिंह (1700-1735 ई.) के संबंध में संवत् 1769 में इन्होंने 'वरसलपुर विजय' अथवा 'महाराजा सुजानसिंह रो रासो' नामक काव्य की रचना की थी।[1] इसमें कुल 68 पद्य हैं। इससे प्रसन्न होकर महाराजा ने दासकवि को 'वर्षासन', 'सासणदान' किया था, फिर व्यतीपात-पर्व के मध्य फरमान दिया था। इसके बाद इन्हें उक्त महाराज ने 'सिरोपांव' देकर सम्मानित किया था। इस बात का उल्लेख स्वयं कवि ने 'वैद्यकसार' के अन्त में 'कविवर्णन' प्रसंग में किया है—

'बीकानेर वासी विसद, धर्म कथा जिह धांम।
स्वेतांबर लेखक सरस, 'जोसी' जिनकौ नाम ।।72।।
अधिपति भूप अनूप जिहि, तिनसों करि सुभ भाय।
दीय दुसालौ करि करै, कह्यौ जु 'जोसीराय' ।।73।।
जिनि वह जोसीराय सुत, जांनहु जोगीदास।
संस्कृत भाषा भनि सुनत, भौ भारती प्रकाश ।।74।।
जहां 'महाराज सुजांन' जय, वरसलपुर लिय आंन।
छन्द प्रबन्ध कवित करि, रासौ कह्यौ बखांन ।।75।।
श्री 'महाराज सुजान' जब, धरम ललक मन आंन।
'वर्षासन' संकल्प सौं, दीय 'सांसण' करि दांन ।।76।।
व्यतीपात के पर्व विच, परवानो पुनि कीन।
छाप आपनी आप करी, 'दास कविनि' कों दीन ।।77।।
सब गुन जांन 'सुजानसिंघ', सब रायनि के राय।
कविराज सु करि कृपा, बहुरि दयो 'सिरपाय' ।।78।।'

वैद्यकसार—जोगीदास या दासकवि की यह वैद्यक कृति है।

महाराजा सुजानसिंह के राजकुमार जोरावरसिंह की इच्छानुसार उनके नाम से दासकवि ने इसकी रचना की थी। इस बात का उल्लेख लेखक ने ग्रन्थ के प्रारम्भ और अन्त में किया है—

---

[1] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1 (1939), 'इतिश्री श्रीमहाराजाधिराजमहाराजा श्री 5 श्रीसुजाणसिंघजी वरसल्लपुर गड़ विजयं नाम समयः। मथेन जोगीदासकृत समाप्तः। संवत् 1769 वर्षे माघ सुदि 5 दिने लिखतं।'

ग्रन्थारम्भ में लिखा है—

'नव कोटि में मुकुट मन, 'बीकानेर' शुभ थान ।
राज करै राजा तहां, नृप मन नृपति 'सुजान' ॥3॥
जांकै कुंवर प्रसिद्ध जग, सब गुण जांन अनूप ।
'जोरावरसिंह' नाम जिह, राज सभा को रूप ॥4॥
'तिन महाराज कुंवार की, उपज लखी कविराय ।
अपने मन उछाह सौं, भाषा करी बनाय ॥11॥

ग्रंथ के अन्त में भी लिखा है—

'जिन महाराज सुजांन कै, 'जोरौं' कुंवर सुजान ।
कलि में दाता कर्ण सो, सूरज तेज बखांन ॥79॥
जिनकै नामै ग्रन्थ यहु, कर्‌यो 'दास कवि' जान ।
राजकुंवर की रीझ को, अब कवि करै बखान ॥80॥

अन्तिम पुष्पिका में लिखा है—

'इति श्रीमन्महाराज कुंवार जोरावरसिंह विरचितायां वैद्यकसारे ।'

ग्रन्थांत में इसका रचनाकाल सं. 1762 अश्विन शुक्ला 10, तथा रचनास्थान बीकानेर दिया है—'नयन2 खंड6 सागर7 अवनि1, ऊजल आश्विन मास ।
दसम द्यौस 'कविदास' कहि, पूरन भयो प्रकास ॥'

इसमें रोगों की चिकित्सा दी गई है । इसकी हस्तप्रति अनूप संस्कृत लाईब्रेरी बीकानेर में हैं । इसमें सात अध्याय है ।

समरथ (1707 ई.)

यह श्वेतांबर जैन यति थे । खरतरगच्छ की सागरचंद्रसूरि शाखा के मतिरत्न या 'सुमतिरत्न' के शिष्य थे । 'रसिकप्रिया टीका' के अन्त में इन्होंने संस्कृत पद्यों (लगभग 20) में अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है । खरतरगच्छ में जिनचंद्रसूरि प्रसिद्ध आचार्य हुए । उसी परम्परा में सागरचंद्रसूरि हुए । इनसे नयी शाखा प्रवर्तित हुई । इनके शिष्य सुधर्मरत्न—उनके शिष्य मुनि रत्नधीर—उनके शिष्य गुणनंदनारथ—उनके शिष्य समयमूर्ति—उनके दो शिष्य नेमहर्ष और मतिरत्न हुए । इनमें से मतिरत्न के शिष्य समरथ हुए ।

दीक्षितावस्था का इनका नाम 'समयमाणिक्य' था । यह बीकानेर के निवासी थे । इनके अनेक ग्रन्थ मिलते हैं । केशवदास की ब्रजभाषा में विरचित 'रसिकप्रिया' पर संस्कृत में टीका (र. का. सं. 1755, श्रावण सुदि 5, सोमवार । जालिपुर),[1] 'बावनी-

---

[1] देखें—राज. हस्त. ग्रन्थों की खोज, भाग 2, पृ. 137–140

गाथा', 'मल्लिनाथ पंचकल्याणकस्तवन' आदि। वैद्यक पर 'रसमंजरीभाषाटीका' मिलती है।

रसमंजरी भाषाटीका—

इसकी हस्तलिखित प्रति अभयजैन-ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित है। परन्तु यह त्रुटित है। यह वैद्यनाथ के पुत्र शालिनाथ नामक ब्राह्मण द्वारा प्रणीत संस्कृत के 'रसमंजरी' ग्रंथ की पद्यमय भाषाटीका है। सुगम और सरल बनाने के लिए श्वेताम्बरी समरथ ने इसका यह अनुवाद किया था।

'वैद्यनाथ' ब्राह्मण भयों, ताको पुत्र परसिद्ध।
'शालीनाथ' जसु नाम है, शुचि रुचि सदा सुबुद्धि ॥5॥
शास्त्र अनेक विचार के, देखि वैद्य संकेत ॥
तिसने करी रसमंजरी, सुकृति जनके हेत ॥6॥
किये 'शालिनाथ रसमजरी', संस्कृत भाषा मांहि।
समझि न सकति मूढ़ की, व्याकुल होत है आहि ॥8॥
तातैं भाषा करत है, 'श्वेतांबर समरत्थ'।
सुगम अरथ सरलता, मूरख जन के अरथ ॥9॥ (ग्रंथारम्भ)

ग्रन्थ के प्रारम्भ में शालीनाथकृत रसमंजरी के अनुसार इसमें भी उमासहित शिव की वन्दना की गई है।

अंत में गुरु का नामोल्लेख इस प्रकार हुआ है—

'श्री मतिरतन गुरु परसाद, भाषा सरस करी अति साद।
ताको शिष्य 'समरथ' है नाम, तिसने करि यह भाषा अभिराम ॥42॥ (ग्रंथांत)

इस भाषाटीका का रचनाकाल सं. 1764 (1707 ई.) फाल्गुन 5 रविवार दिया है—

'संवत् सतेरेसय चौसठि समै, फागुन मास सब जन कौ रमै।
पांचमि तिथि अरु आदित्यवार, रच्यौ ग्रन्थ देरै मझारि ॥41॥ (ग्रंथांत)

ग्रन्थ की रचना 'देर' (?) नामक स्थान में की गई थी।

यह रसविद्या (रसशास्त्र) संबंधी ग्रन्थ है—

'रसविद्या में निपुण जु होइ, जस कीरति पाये बहु लोइ।
जहां तहां सुख पावै सही, सो रस विद्या प्रगटावै कही ॥44॥ (ग्रंथांत)

इसमें कुल 10 अध्याय हैं, जिनके नाम और पद्यसंख्या निम्नानुसार है—

1 रसशोधन-कथन प्रथमोध्याय: पद्य 37
2 रसजारण-मारणादि-कथन द्वितीयोध्याय: पद्य 68
3 उपरस-शोधन-मारण-सत्वनिपात माणिक्य-शोधन-मारण-कथन तृतीयोध्याय: पद्य 10
4 विष-लक्षण, विष-सेवा, विष-परिहार कथन चतुर्थोध्याय: पद्य 32

5	स्वर्णादिधातुशोधनमारणकथन पंचमोध्याय:	पद्य 84
6	रसमारण कथन षष्ठोध्याय:	पद्य 264
7	वीर्य रोधनाधिकार सप्तमोध्याय:	पद्य 22
8	? नाम (अप्राप्य)	—
9	मिश्रकाध्याय: नवम:	पद्य 79
10	छाया पुरख (पुरुष) कथन दशमोध्याय:	पद्य 44

यह सारा ग्रंथ चौपाई छंदों में लिखा गया है। भाषा सरल और सुगम है। शालिनाथकृत रसमंजरी का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से सं. 1978 में हुआ था।

गुणविलास (1715 ई.)

यह खरतरगच्छीय 'सिद्धिवर्द्धन' के शिष्य थे। इनके लिखे हुए 'गुणरत्नप्रकाशिका' नामक वैद्यक-ग्रन्थ की हस्तप्रति आचार्यशाखाभंडार बीकानेर में मौजूद है। इसका रचनाकाल सं. 1772 (1715 ई.) है।

लक्ष्मीचन्द (1723 ई.)

यह जैनयति थे। यह खरतरगच्छीय अमरविजय के शिष्य थे। इनका काल 18वीं शती का पूर्वार्ध था। इनकी लिखी 'आगरा गजल' का रचनाकाल सं. 1780 आषाढ़ शुक्ला 13 दिया हुआ है।

इनके द्वारा लिखा हुआ एक 'वैद्यक ग्रन्थ' इनकी परम्परा के उपाध्याय जयचंदजी के भण्डार बीकानेर में प्राप्त है।[1]

दीपकचन्द्र वाचक[2] (1735 ई.)

यह खरतरगच्छीय दयातिलक 'उपाध्याय' के शिष्य थे। यह 'वाचक' मुनि

---

[1] अगरचन्द नाहटा, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग 2, पृ. 158।

[2] हस्तलिखित प्रतियों में इनके 'दीपचन्द्र' और 'दीपचन्द' नाम भी मिलते हैं। मुनि कांतिसागर ने 'लंघनपथ्यनिर्णय' का कर्त्ता 'लक्ष्मीनाथ वाचक' लिखा है। शेष विवरण दीपचन्द वाचक कृत 'लंघनपथ्यनिर्णय' के समान है। रचनास्थान व रचनाकाल भी वही है। (द्र. 'अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य', उदयाभिनन्दनग्रंथ, पृ. 621)। 'चेकलिस्ट ऑफ संस्कृत मेडिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स' (नई दिल्ली, 1972) में श्री लक्ष्मीनाथ कृत 'लंघनपथ्यनिर्णय' का उल्लेख है (क्र. 416)। परन्तु यह नाम मेरे द्वारा देखी गई इस ग्रंथ की छ: प्रतियों में नहीं मिला।

(यति) थे। यह आचार्य जिनदत्तसूरि की परम्परा में हुए थे।[1] संभवत: इनको जयपुर के महाराजा 'जयसिंह' द्वारा राजसम्मान प्राप्त हुआ था। इनका निवासस्थान भी जयपुर ही रहा। इनके गुरु उपाध्याय 'दयातिलक' स्वयं कवि और संयमीसाधु थे।

इनके दो वैद्यक ग्रन्थ मिलते हैं—एक, संस्कृत में—'पथ्यलङ्घननिर्णय' तथा द्वितीय, राजस्थानी में 'बालतन्त्रभाषावचनिका' (बालतन्त्र पर भाषाटीका) है। इनकी अन्य रचनाएं ई. 18वीं शती के द्वितीय चरण की मिलती हैं।[2]

1. पथ्यलङ्घननिर्णय—

हस्तप्रतियों में इसके भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं—पथ्यनिर्णय पथ्यापथ्यनिर्णय, लंघनपथ्यनिर्णय, लंघनपथ्यविचार। परन्तु ग्रन्थकार ने ग्रन्थ में इसका 'पथ्यलङ्घननिर्णय' नाम ही दिया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में सर्वज्ञ (जिन), शारदा, गणनाथ (गणेश), धन्वन्तरि और गुरु दयातिलक को नमस्कार किया है। क्योंकि ये पांच विघ्ननिवारक श्रेय करने वाले और यश प्रदान करने वाले हैं—

"पंचैतान् नमस्कृत्य पंचैते विघ्ननिवारका:।
पचैते श्रेय:कर्त्ता च पंचैते च यश:प्रदा: ॥' (ग्रंथारम्भ, श्लोक 7)

इस प्रसंग में गुरु का स्मरण इन शब्दों में किया है—

'महोपाध्याय श्रीपूर्व्वं दयातिलक सद्गुरून्।
तच्चरणं प्रणम्यादौ मया ग्रंथं विरच्यते ॥6॥ (ग्रंथारम्भ)

इसके बाद एक पद्य में आत्रेय, धन्वन्तरि, सुश्रुत, नासत्य (अश्विनीकुमार), हारीत, माधव, सुषेण, दामोदर, वाग्भट, दस्र, (?-अश्विनीकुमार), स्वयंभू (ब्रह्मा),

---

[1] युगप्रधान जिनदत्तसूरि (जन्म सं. 1132, स्व. सं. 1211 अजमेर में) की परम्परा में 15वीं शती में वा. शीलचन्द्रगणि हुए। उनके बाद क्रमश: शिष्य-परम्परा इस प्रकार मिलती है - उनके शिष्य वाचक रत्नमूर्तिगणि — मेरुसुन्दर उपाध्याय— क्षांतिमंदिर — हर्षप्रियगणि — वा. हर्षोदयगणि — हर्षसार (सम्राट अकबर के समकालीन)—शिवनिधान उपाध्याय। शिवनिधान के दो शिष्य हुए महिमसिंह (अन्य नाम मानकवि), और वा. मतिसिंह। उनके शिष्य रत्नजय (मनोहरजी) हुए। उनकी छत्री फतहपुर में सं. 1733 में बनी। उनके तीन शिष्य हुए— वाचक दयातिलक, रत्नवर्द्धन, वा, भाग्यवर्द्धन। वा. दयातिलक के 8-10 ग्रंथ मिलते हैं। उनके शिष्य वा. दीपचन्द्र हुए। (देखें युगप्रधान जिनदत्तसूरि, पृ. 69-72)

[2] 'जैनसिद्धान्त भास्कर' भाग 5, किरण 2, पृष्ठ 115 पर 'लंघनपथ्यविचार' नामक कृति का उल्लेख है। इसका प्रणयनकाल भी सं. 1792 है और रचयिता का नाम श्री 'दीपचन्द' दिया हुआ है।

चरक को तथा द्वितीय पद्य में ब्रह्मा, ईश, गरुडध्वज, भृगुसुत (च्यवन), भारद्वाज, गौतम, हारित, चरक, अत्रि, इन्द्र, धन्वन्तरि, माधव, नासत्य, नकुल, पराशरमुनि, दामोदर, वाग्भट और अन्य वैद्यों की स्तुति की गई है।[1]

इस ग्रन्थ की रचना संवत् 1792 (1735 ई.) माघ शुक्ला प्रतिपदा गुरुवार को जयपुर में की गई थी। उस समय वहां महाराजा जयसिंह का शासनकाल था—

'द्विनन्दमुनिभूवर्षे (2971=1792) मासे च माघसंज्ञके।
शुक्लस्य प्रतिपदायां च भृगोश्चैव तु वासरे।।
संपूर्ण क्रियते ग्रन्थं 'निर्णयं पथ्यलंघनं'।
'श्रीजैपुरे' महाराजे राज्ये 'जयसिंहभूपके।।
(पाठांतर—श्रीजयपुरवरे रम्ये राज्ये 'जयसिंह' भूपतेः।)
संपूर्णो हि कृतो ग्रन्थः 'पथ्यलंघननिर्णय?।।' (ग्रन्थांत, पद्य 298–299)

अनेक शास्त्रों का अवलोकन कर अपनी बुद्धि के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना की गई है—

'विद्वज्जनान् संपूज्य नमस्कृत्य गुरुन्प्रति।
सर्वशास्त्राननुसंवीक्ष्य आत्मबुद्ध्यनुसारतः।।297।।

पुनः कहा है, कि इसमें कुछ भी कपोलकल्पित नहीं है, केवल पूर्वाचार्यों के शास्त्र-बचनों का संग्रह है—

'कपोलकल्पितं नास्ति पूर्वाचार्यानुसारतः।
'वाचकदीपचंद्रेण' एकत्रिकृतशास्त्रतः।।401"
मया च मंदबुद्धया च कुर्यात्पथ्यनिर्णयः।'

ग्रन्थ में कुल 304 पद्य हैं। इसमें ज्वररोग में लंघन और पथ्य—अपथ्य की व्यवस्था का विस्तार से निरूपण है। इसी प्रसंग में ग्रन्थ के प्रारम्भ में मूढ़वैद्य के लक्षण, और वैद्य की प्रशंसा का उल्लेख भी हुआ है। विभिन्न प्रकार के ज्वरों के भेद और लक्षण भी बताए गए हैं। चिकित्सा के दो प्रकार बताए हैं -कर्षणी और वृंहणी—

'चिकित्सा द्विविधा प्रोक्ता वैद्यविद्याविशारदैः।
सामे च कर्षणी प्रोक्ता निरामे वृंहणी मता।।14।।

---

[1] आत्रेयधन्वन्तरिसुश्रुतानां नासत्यहारीतमाधवानां।
सुषेणदामोदरवाग्भटानां दस्रस्वयंभूचरकादिकानां।।8।।
ब्रह्मेशो गरुड़ध्वजो भृगुसुतो भारद्वाजो गौतमो
हारीतश्चरकोऽत्रिक-सुरगुरु-र्धन्वन्तरि-र्माधवो
नासत्यो नकुलः पराशरमुनिः दामोदरो वाग्भटो
येऽन्ये वैद्यविशारदाः मुनिवरास्तेभ्यः परिभ्यो नमः।।9।। (ग्रन्थारम्भ)
ये पद्य 'हंसराजनिदान' (भिषक्चक्रचित्तोत्सव) में भी मिलते हैं।

सामरोग में कर्षणचिकित्सा और निराम अवस्था में बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। पुनः, रोगियों की छः प्रकार से चिकित्सा करना बताया गया है—

'अथ रोगिणां षट् चिकित्सा लिख्यते—'चिकित्सामृतसागरात्'
निवात-निलयं शैय्या उष्णनीरं च लंघनं।
पथ्यं विलंघनं चैव षट्चिकित्सा प्रकीर्तिता ॥60॥

उक्त छः प्रकार की चिकित्सा—निवातगृह, शैय्या, उष्णजल, लंघन, पथ्य और विलंघन का लगभग 218 (श्लो. 60 से 278) पद्यों में वर्णन किया गया है। ज्वर के अन्त में शक्त्यनुसार घृतपान कराना बताया है। इसके बाद ज्वरी के लिए नियमों का निर्देश है।

इस ग्रन्थ में अनेक ग्रंथों से मत व वचन उद्धृत हैं—

1 चिकित्सारत्नभूषण
2 वैद्यसंजीवन
3 वैद्यविनोद
4 ज्वरतिमिरभास्कर
5 भावप्रकाश
6 कालज्ञान
7 वैद्यसर्व्वस्व
8 चिकित्सामृतसागर
9 वंगसेन
10 सुश्रुत
11 वाग्भट
12 वैद्यकसारसंग्रह
13 चरक
14 हितोपदेश
15 चक्रदत्त
16 वृद्धवृंद
17 वृद्धसुश्रुत
18 सिद्धांतशिरोमणि
19 सुषेण-ग्रन्थ-चित्तोत्सव
20 भेड
21 सूपकारग्रंथ
22 क्षेमकुतूहल
23 टोडरानंदग्रंथ
24 अमृतसागर
25 भिषक्चक्रचित्तोत्सव
26 दामोदरग्रंथ
27 माधवनिदान
28 लक्ष्मणोत्सव
29 गारूडीसंहिता
30 आनंदमाला
31 तत्रान्तर
32 आचार्यमत

कुछ ह. प्रतियों में ग्रन्थ के अन्त में लिखा मिलता है कि संवत् 1885 भाद्रपद में में 'शंकर' नामक ब्राह्मण ने इसका संशोधन किया था—

शरेभेन्दुभार्गवर्षे (5881—1885) भाद्रे मास्यसिते दले।
शंकरस्य तिथौ चन्द्रे 'पथ्यलंघननिर्णयः ॥
शंकराख्येण विप्रेण शोधितो बुध्यतां बुधैः।'

आयुर्वेद-चिकित्सा में रोगों के विशिष्ट पथ्य स्वीकार किये गये हैं। ज्वरों में विविध पथ्यों के ज्ञान के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

यह अब तक अप्राशित है।

इस ग्रंथ से लेखक के वैद्यक और संस्कृत संबंधी विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है।

(2) बालतंत्र-भाषा-वचनिका—

यह लेखक की हिन्दी (राजस्थानी मिश्रित) गद्य में लिखी हुई रचना है। अहिछत्रानगर (वर्तमान नागौर) के निवासी रामचंद्र पंडित के पुत्र और महिधर के पुत्र 'कल्याणदास' ने संस्कृत में 'बालतंत्रम्' की रचना की थी। इसकी भाषाटीका खरतर-गच्छीय वाचक दीपचंद्र ने की —

"तिसकी भाषा खरतरगच्छ मांहि जनि 'वाचक' पदवी धारक 'दीपचन्द' इसे नामैं।"

इस टीका का नाम लेखक ने 'बालतंत्रभाषावचनिका' या 'बालतंत्रग्रंथवचनिकाबंध' लिखा है।[1] इसमें बालकों के रोगों की चिकित्सा का वर्णन 15 पटलों में किया गया है। भाषाटीका के अन्त का उद्धरण यहां दिया जा रहा है—

'ग्रन्थकर्ता कहै हैं मैंने जो यह बाल चिकित्सा ग्रन्थ कीया है। नाना प्रकार का ग्रन्थ कूं देख कर किया है सो ग्रंथ कौंण कौंण से आत्रेय 1, चरख 2, श्रुश्रुत 3, वाग्भट4, हारीत 5, जोगसत 6, सनिपातकलिका 7, बंगसेन 8, भावप्रकाश 9, भेड 10, जोगरत्नावली 11, टोडरानंद 12, वैद्य विनोद 13, वैद्यकसारोद्धार 14, श्रुश्रुत 15 (?), जोगचिंतामणि 16 इत्यादि ग्रन्थां की साखा लेकर में यह संस्कृत सलोक बंध कीया है। कल्याणदास पंडित कहता है, बालक की चिकित्सा का उपाय के देख कीजे। अहिच्छत्रानगर के विषें बहू पंडितां के विषें सिरोमन 'रामचंद' नामा पंडित रामचन्द्रजी की पूजा विषें सावधान। सो 'रामचंद्र' पंडित कैसो है। सातां कहतां सजनां नैं विषें पंडित मनुष्यां ने प्रीय छै। तिसके 'महिधर' नामा पुत्र भयौं। सो कशो हुवौं। पंडत मनुष्यां के तांइ खुस्यालि के करणहारे हुये। अत्यंत महापंडित होत भये। सर्व पंडित जनौं के बंदनीक भये। फेर 'महिधर' पंडित केसे होत भये। श्री लक्ष्मीजी के नृसिंघजी के चर्ण कमल सेवन के विषें भृंग कहतां भंवरा समान होत भयो। माहा वेदांती भये। आतम ग्यानी भये। सर्व शास्त्र आगम अर्थ तिसके जांणणहार भये। महा परमागम शास्त्र के बकता भये। तिसके पुत्र 'कल्याणदास' नामा होत भये। माहा पंडित सर्व शास्त्र कें बकता जाणणहार वैद्यक चिकित्सा विषें महा प्रविण सर्व शास्त्र वैद्यक का देख कर परोपगार के निमित्त पंडितां का ग्यान के वासतैं यह बाल चिकित्सा ग्रन्थ करण वास्ते कल्याणदास' पंडित नामा होत भये। तीसैं करी सलोक बंध। तिसकी भाषा 'खरतर गच्छ' मांहि जनि 'वाचक' पदवी धारक 'दीपचन्द' इसे नामैं, तिसनैं कह्या यह संस्कृत ग्रन्थ कठिन है सौं अग्यानी मंद बुद्धि मनुष्य समझे नहीं—तिस

---

[1] ग्रन्थारम्भ में—'अथ बालतंत्रग्रंथभाषावचनिकाबंध लिख्यते।'
ग्रन्थांत में— 'इति श्री बालतंत्रग्रन्थवचनिकाबंध पूरी पूर्णमस्तु।'

वास्तैं 'बालतंत्रग्रन्थभाषावचनिका' करें, मंद बुद्धि के वास्तैं और या ग्रन्थ विषैं षोडश प्रकार की बांझ स्त्री कथन, नामर्द का कथन, गर्भरक्षा विधान कथन, बंध्या स्त्रि का रुद्र (ऋतु) स्नांन कथन, कष्टि स्त्रि का उपाय, बालक की दिन मास वर्ष की चिकित्सा कथन, बलि विधान कथन, धाय का लक्षण कथन, दुध शुद्ध कर्ण का उपाय, और सर्व बालक का रोगां का उपाय कथन, इसौ जो बालतंत्र ग्रन्थ सर्वजन कौं सुखकारी हुवौ। इति बालतंत्र ग्रंथ भाषा वचनिका सर्व उपाय कथन पनरमौ पटल पूरो हुवो ।।15।। इति श्री बालतंत्र ग्रन्थ वचनिका वंध पूरी पूर्णमस्तु ।।'

(3) **वैद्यकग्रन्थ**— (वि. 18वीं शती).

इसकी हस्तप्रति आचार्य शाखा भंडार, बीकानेर में विद्यमान है।

मेघमुनि (1761 ई.)

लोंकागच्छ की एक शाखा उत्तर प्रांत में जाने के कारण 'उत्तराधगच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी गच्छ के 'मुनि जटमल' के शिष्य 'परमानंद' हुए, उनके शिष्य 'सदानंद' हुए, उनके शिष्य 'नारायण' हुए, उनके शिष्य 'नरोत्तम' हुए, उनके शिष्य 'मायाराम' हुए और मायाराम के शिष्य 'मेघविजय' हुए, जो सामान्यतया 'मेघमुनि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'मेघमाल' और 'मेघविनोद' के अन्त में उन्होंने अपनी इसी गुरु–परम्परा का उल्लेख किया है—

'श्री 'जटुमल' मुनिसजी सब साधन राजा, 'परमानन्द' सु सीस है ग्रन्थ विगूनि साजा। शिष्य भयो 'सदानंद' तिसतें उपमा भारी, चौदा विद्या युक्त सोई आज्ञा गुरु कारी ।।12।।

ताहि शिष्य 'नारायण' नाम, गुण सोभा को दीसे ठाम।
तांको शिष्य भयो 'नरोत्तम' विनयवंत आज्ञा नभगोत्तम ।।16।।
ता सेवा में 'मयाजुराम', कृयावंत विद्या अभिराम।
तिनकी दया भई मुझ ऊपर, उपज्यौ ज्ञान सही मोही पर ।।17।।

(मेघमाल, ग्रन्थांत)

मेघमुनि जैन यति थे और इनका निवासस्थान पंजाब के जालंधर जिले में 'फगवाड़ा' नामक नगर था। यह नगर कपूरथला रियासत में था और व्यापार की प्रसिद्ध मंडी रहा। यहीं रहते हुए उन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे थे—

1. **मेघमाल**—यह वर्षाविज्ञान संबंधी ग्रन्थ है। इसकी रचना सं. 1817 कार्तिक सुदि 3 गुरुवार को फगवाडे के राव (ठाकुर) 'चौधरी चाहड़मल' के काल में हुई थी। यह ग्रन्थ वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित हो चुका है।

'चूहडमल्ल जु चोधरी, फगवारे को राउ। चतुर सैन कां सोभ हैं, जिउ उडगण शशि थाउ ।।22।।'

2. **मेघविनोद**—यह वैद्यक संबंधी प्रसिद्ध रचना है।

3. **दानशीलतप**— यह हस्तलिखित रूप में पंजाब भंडार में मौजूद है। र. का. सं. 1817।

मेघविनोद—इसकी रचना भी फगवाड़े में संवत् 1818 (1761 ई.) पौष वदी तृतीया, सोमवार को पुनर्वसु नक्षत्र और ब्रह्मयोग में पूर्ण हुई थी।

यह आयुर्वेद की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण कृति है। इसमें विस्तार के साथ रोगों के निदान और चिकित्सा दोनों का विवरण दिया गया है। निदान-चिकित्सा का सुन्दर ग्रथ है। विभिन्न रोगों के लिए सरल, सुगम और प्रचलित सिद्ध योगों का संकलन है। इसके निर्माण में अनेक ग्रन्थों से सहायता ली गयी है, जिसका स्थान-स्थान पर निर्देश मिलता है। यह विस्तृत और उपयोगी ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ प्रथम गुरुमुखी (पंजाबी) लिपि में प्रकाशित हुआ था। लाहौर के 'मोतीलाल बनारसीदास' प्रकाशन—संस्था के संस्थापक सुन्दरलाल जैन ने इसका नरेन्द्रनाथ शास्त्री से हिन्दी में भाषानुवाद कराया, जो 'सौदामिनी भाषाभाष्य' नाम से गद्य में लाहौर से ही 1942 में प्रकाशित हुआ था। अब इसका द्वितीय संस्करण, 1951 में मोतीलाल बनारसीदास, बनारस से छपा है, जो उपलब्ध है।

ग्रंथकार की उक्ति के अनुसार इसमें पांच हजार दोहे, चौपाईयां और अन्य छंद हैं तथा बत्तीस अक्षर की 'गाथा' के हिसाब से सात हजार तीन सौ गाथा या ग्रंथ हैं।

इसमें प्रथम अध्याय में परीक्षाविधि (नाड़ीपरीक्षा, मूत्रपरीक्षा, कालज्ञान, प्रश्न-विधि, मुख व नेत्र की परीक्षा), वैद्य, दूत, शकुन, रोगी, रक्तमोक्षण. मानप्रमाण नक्षत्र कष्टावली, वारकष्टावली, स्वप्नविचार, युक्तायुक्तविचार, वनस्पति (औषधियों का विचार, औषधसेवनकाल, अनुकल्पना, रोगों की गणना, शरीरकवर्णन, तेलपाकविधि, क्वाथपाकविधि, वात-पित्त-कफ के लक्षण व रोग— विषय दिये है। अ 2 से 11 तक ज्वरादिरोगों के निदान, संप्राप्ति, लक्षण, उपद्रव के विवेचन के साथ चिकित्सा का विस्तार के साथ विवरण दिया गया है। बारहवें अध्याय में विष, विरेचन, नस्य धूम्रपान, स्व-रसादिकल्पना, निघंटु-वर्णन (द्रव्यों का परिचय व गुणधर्म) आदि विषय दिये हैं। तेरहवें अध्याय में धातुओं के शोधन, अवलेह, घृत-तैल, आसव-अरिष्ट, गुटिका, पाक, पौष्टिकयोग वर्णित हैं।

चिकित्साविषयक यह उत्तम संग्रह-ग्रन्थ है। इसमें 1 माधवनिदान, 2 वंगसेन 3 योगचिंतामणि, 4 शार्ङ्गधर, 5 योगशतक, 6 कालज्ञान, 7 सन्निपातकलिका, 8 निघण्टु, 9 सारसंग्रह, 10 रत्नमाला, 11 पथ्यापथ्य, 12 वैद्यकुतूहल, 13 ब्रह्मयामल, 14 रसरत्नाकर, 15 वीरसिंहावलोक, 16 डामरतंत्र, 17 रसमंजरी, 18 आत्रेयसंहिता, 19 हारीतसंहिता, 20 चरकसंहिता, 21 सारोद्धार, 22 मनोरमा, 23 भावप्रकाश, 24 हितोपदेश, 25 वन्द, 26 प्रभृति ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं। इसमें प्रचलित

रोगों और उनकी अनुभूत चिकित्सा का भी वर्णन किया गया हैं। अत: चिकित्सक के लिए बहुत उपयोगी है।

यूनानी वैद्यक के द्रव्यों और औषधयोगों का भी उपयोग है। पाकाधिकार में लघु और बड़ी जवाहरी (याकूती) का प्रयोग द्रष्टव्य है। वाजीकरण हेतु 'कलानिधि-वटी' (केशर, शु. हिंगुल, जायफल, कस्तूरी, अफीम, भांग, आकरकरा का योग) विशेष है।

ग्रंथांत में ज्योतिषशास्त्रानुसार औषध देने के योग, वारयोग और रोग के बाद स्नान करने के योग बताये है—

औषध देने के योग—रेवती, अश्विनी, पुष्य, पुनर्वसु, मृगशिरा, हस्त, चित्रा, मूला, शतमिषा, स्वाती, श्रवण और धनिष्ठा—इन नक्षत्र-योगों में औषध देनी चाहिए।

वारयोग—रविवार, शनिवार, मंगलवार को औषध देनी चाहिए। इससे शीघ्र लाभ होता है।

रोग के बाद स्नान—रोहिणी, स्वाती, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा और उत्तराफाल्गुनी —इन नक्षत्रों को छोड़कर पुनर्वसु, रेवती तथा मघा नक्षत्रों में, इसी प्रकार रिक्ता तिथि, चर लग्न, मंगलवार और रविवार के दिन रोगी को स्थान कराना चाहिए।

चैनसुख यति (1763 ई.)

यह श्वेतांबर साधु थे। यह खरतरगच्छ में जिनदत्तसूरि शाखा में लाभनिधान के शिष्य थे।[1] इनका निवासस्थान फतेहपुर (शेखावाटी) थां। इनके शिष्य चिमनीराम ने वहां सं. 1868 में इनकी छतरी (समाधि) बनाई थी। फतहपुर में इनकी परंपरा के यति आज भी विद्यमान हैं। ये अच्छे चिकित्सक थे।

इनके वैद्यक पर राजस्थानी में लिखे दो ग्रन्थ मिलते हैं—

1. सतश्लोकीभाषाटीका
2. वैद्यजीवन–टवा

ये दोनों ग्रन्थ भाषाटीकाएं हैं।

---

[1] *इनकी गुरु-शिष्य परम्परा इस प्रकार है—वाचक शीलचन्द्रगणि—वाचक रत्नमूर्ति-गणि—मेरुसुन्दर उपाध्याय—क्षांतिमंदिर—हर्षप्रियगणि—वाचक हर्षोदयगणि—हर्षसार (सम्राट अकबर के समकालीन)—शिवनिधान उपाध्याय—वा. मतिसिंह—रत्नजय—भाग्यवर्द्धन—लाभसमुद्र—लाभोदय (सं. 1762)—लाभनिधान—चैनसुख—चिमनीराम। (अगरचन्द नाहटा, भंवरलाल नाहहा, युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि, पृ. 69–73)।*

1. **सतश्लोकीभाषाटीका**—(स्तबक)

बोपदेव ने 13वीं शती के मध्य में पद्यों में चिकित्सा संबंधी 'शतश्लोकी' नामक योगसंग्रह की रचना की थी। इसमें चूर्ण, गुटिका, अवलेह, घृत, तैल और क्वाथ के रूप में औषधयोगों का संग्रह है। यह ग्रन्थ चिकित्सा में बहुत प्रसिद्ध रहा। इस पर चैनसुखयति ने गद्य में राजस्थानी भाषाटीका लिखी है। इसकी रचना महेश की आज्ञा से रतनचन्द के लिए की गई थी। इसका रचनाकाल संवत् 1820 (1763 ई.) भाद्रपद कृष्णा 12 शनिवार दिया गया है। ग्रंथ के अन्त में लिखा है—

'संवत् अठारे वीस' के, मास भाद्रपद जाण।
कृष्णपक्ष तिथ द्वादशी, वार शनिश्चर मान ।।1।।
टीका करी सुधरि के, चैनसुख कविराय।
आज्ञा पाय 'महेश' की, 'रतनचन्द' के भाय ।।2।।'

2. **वैद्यजीवन टवा**—लोलिम्बराज की 'वैद्यजीवन' एक प्रसिद्ध कृति है। इसमें रोगानुसार सरल, अनुभूत, छोटे योग दिए हैं। यह सदैव चिकित्सकों का कण्ठदार रहा है। इस पर राजस्थानी गद्य में चैनसुख जती ने 'टवा नामक भाषाटीका लिखी है।

रामविजय उपाध्याय (1774 ई.)

यह खरतरगच्छीय 'दयासिंह' के शिष्य थे। वैद्यक पर इनके दो टीका-ग्रन्थ मिलते हैं—

1. शतश्लोकी-स्तबक (बोपदेवकृत 'शतश्लोकी' की भाषाटीका)
2. सन्निपातकालिका-स्तबक

इन दोनों ग्रंथों का रचनाकाल सं. 1831 (1774 ई.) और रचनास्थान पाली (मारवाड़) है। संभवत: ये इसी क्षेत्र के निवासी थे।

'शतश्लोकी स्तबक' की हस्तप्रति रा. प्रा. वि. प्र. चित्तौड़ (39) में है।

चैनरूप (1778 ई.)

संभवत: ये बीकानेर के निवासी थे। इनके एक वैद्यक ग्रंथ 'पथ्यापथ्य-स्तबक' की हस्तप्रति दानसागर भंडार बीकानेर में मौजूद है। इसका रचनाकाल सं. 1835 (1778 ई.) है।

रघुपति (18वीं शती ई.)

इनके गुरु खरतरगच्छीय 'विद्यानिधान' थे। इनका काल वि. 18वी शती था।

ये अच्छे कवि थे। इनकी अधिकांश रचनाएं राजस्थानी में हैं।

इनकी रचनाएं सं. 1787 से 1839 (1730 से 1782 ई.) तक की मिलती हैं।

इसमें 51 पद्य हैं। इसमें भगवान् महावीर के दसोठण (नामस्थापन संस्कार) के अवसर पर की गई भोजन की तैयारी का वर्णन है। इस प्रसंग में भोजन के प्रकार, द्रव्य और उनकी विशेषताओं का भी उल्लेख हुआ है। प्रथम पद्य देखिए—

'आसन पान खादिय तथा, स्वादिम च्यार प्रकार।
यथा योग्य संस्कारयुत, भोजन होत तैयार ।।[1]

विश्राम (1785–1811 ई.)

यह 'कूर्मदेश' के 'अर्जुनपुर' के निवासी थे। 'कूर्म' अर्थात् 'कच्छप' (कछुआ)। 'कच्छपदेश' का अपभ्रंश होकर वर्तमान 'कच्छ' शब्द बना है। यह कच्छ प्रदेश भारत के पश्चिम में सौराष्ट्र के उत्तर में, राजस्थान के दक्षिण–पश्चिमी कोने पर स्थित है, जो वर्तमान में महागुजरात प्रान्त का एक अंग है। यह प्रदेश चारों ओर से अरबसागर द्वारा घिरा होने से एक द्वीप (टापू) है। इसके तीन ओर सागर का जल भरा रहता है, केवल एक ओर (राजस्थान और उत्तरी गुजरात की ओर) दलदलयुक्त भाग है।

'कच्छ' में 'अर्जुनपुर' का अपभ्रंश रूप 'अन्जार' है जो भुज–नगर से पश्चिम में स्थित है। किसी समय वहां राजधानी विद्यमान थी। लेखक की 'व्याधिनिग्रह' की प्राप्त हस्तलिखित प्रति में 'अर्जुनपुर' के स्थान पर 'अन्जार' नगर का स्पष्ट उल्लेख होने से 'अर्जुनपुर' ही अन्जार है, इस तथ्य की पुष्टि होती है। वर्तमान में यह पालनपुर–गांधीधाम रेलवे लाइन पर स्थित है।

विश्राम ने अपने को 'आगम' नामक गच्छ के मुनि 'जीवा' के शिष्य 'पीतांबर' का शिष्य बताया है—

'कूर्मदेशेऽर्जुनपुर: तत्र वासी सदा किल।
गुरु जीवाभिधानस्य गच्छ चागमसंज्ञक: ।।40।।
तस्य 'पीतांबर:' शिष्य: तत्पादवन्दक: सदा।
देवगुरुप्रसादेन 'विश्राम:' ग्रन्थकारक: ।।41।। (अनु. मं., ग्रंथांत)

इनका काल ईसवी की 18वीं शती का अन्त ज्ञात होता है।

वैद्यकशास्त्रपर लिखे हुए विश्राम के दो ग्रन्थ मिलते हैं—

1. अनुपानमंजरी 2. व्याधिनिग्रह।

---

[1] रा. हि. ह. ग्रंथों की खोज, भाग 4, पृ. 154

अनुपानमंजरी—

इस ग्रन्थ का प्रकाशन अभी कुछ समय पूर्व गुजरात आयुर्वेद युनिवर्सिटी, जामनगर से हिन्दीटीकासहित हुआ है ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में सच्चिदानन्द को नमस्कार किया है । इसके विषय को उपक्रम में बताया है—धातु, उपधातु, स्थावरविष, जंगमविष के विकारों की शांति के लिए अनुपानमंजरी का व्याख्यान किया है—

'धातुस्तथोपधातुश्च विषं स्थावरजंगमम् ।
तस्य विकारशान्त्यर्थं वक्ष्येऽनुपानमंजरी ॥2॥'

यह ग्रन्थ पांच 'समुद्देश्यों' या 'पटलों' में विभक्त है । इनके नाम और विषय-वस्तु इस प्रकार हैं—

1. धातुविकारशांतिकृतप्रकरण—इसमें अपक्व, पक्व, सुवर्ण, रूपा, वंग, अयः, पित्तल आदि धातु-विषजन्य विकारों की शांति के उपाय बताये गए हैं ।

2. उपधातु-शांतिप्रकरण—इसमें पारद, ताल, मनःशिला, गंधक, शिलाजीत, तुत्थ, कासीस, मुक्ता, प्रवाल, हीरक आदि के दोषों की चिकित्सा का वर्णन है ।

3. स्थावरविषशांतिकृतप्रकरण—इसमें स्थावर (वनस्पतिज) विषों यथा—अफीम, धत्तूर, भल्लातक, वत्सनाभ, सुपारी, कोद्रव, कुचला आदि के विकारों की शांति के उपाय सूचित हैं ।

4. जंगमविषशांतिप्रकरण—इसमें तरक्षु, श्वान, बिच्छु, सर्प, भ्रमर, मक्षिका, छुच्छुन्दर आदि जीव-जन्तुओं के विष की चिकित्सा बतायी है ।

5. धातु-उपधातु मारणविधि—इसमें धातु, उपधातुओं के शोधन, मरण और रोग-विशेष में उनके अनुपान का वर्णन किया है ।

'अथातः संप्रवक्ष्यामि धातूपधातुमारणैः ।
रोगाणामनुपानं तु संक्षेपात्कथ्यतेऽधुना ॥'

6. रोगानुपानप्रकरण—इसमें शूल, संग्रहणी आदि रोगों के अनुपानों का वर्णन है ।

अन्त में लेखक ने धातुओं और उपधातुओं का नाम परिगणन किया है—

धातुएँ—सोना, रूपा, तांबा, लोह, शीसा, खपरिया और जसद ।

उपधातुएं—पारा, गंधक, हरताल, अभ्रक, मनःशिला, सुवर्णमाक्षिक, सोमल ।

'सुवर्णं रजतं ताम्रं लोहं नागं च खर्परं ।
सप्तमं जसदं धातुः ज्ञातव्यं विबुधैः जनैः ॥'

'पारदं गन्धकं तालं अभ्रकं च मनःशिला ।
माक्षिकं सोमलं तालं ज्ञातव्याः सप्तोपधातवो ये ॥'

रा. प्रा. वि. प्र. उदयपुर स्थित हस्तप्रति (ग्रंथांक 1472) में प्रत्येक प्रकरण या पटल की श्लोक संख्या इस प्रकार है—

इसमें कुल 151 पद्य हैं।

1— 16 श्लोक
2— 22 श्लोक
3— 32 श्लोक
4— 39 श्लोक
5— 34 श्लोक
6— 8 श्लोक

इसका रचनाकाल सं. 1842 (1785 ई.) चैत्र शुक्ला 5, गुरुवार दिया है—

'संवदष्टादशे(18)वर्षे सागर(4)नेत्र 2) चाधिके।
चैत्रे सिते च पञ्चम्यां गुरुवारे च ग्रन्थकृत: ॥39॥' (ग्रंथांत)

इसकी विषयवस्तु नवीन एवं शैली भिन्न है। अत: यह बहुत महत्वपूर्ण कृति है।

2. **व्याधिनिग्रह**—(सस्तबक)

इसमें रोगों की चिकित्सा के अनुभूत योग संगृहित हैं। यह ग्रन्थ भी उपयोगी और विशिष्ट है।

रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर में इसकी दो हस्तप्रतियां मैंने देखी हैं (ग्रंथांक 4171, 4870), इस ग्रन्थ का निर्माणकाल सं. 1868 (1811 ई) दिया है।

मलूकचन्द (18वीं शती)

यह जैन श्रावक थे। संभवत: इनका निवासस्थान बीकानेर क्षेत्र था। इनका काल 18वीं शती ई. माना जाता है। इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। रचनाकाल और रचनास्थान का भी निर्देश नहीं दिया है।

इन्होंने फारसी के यूनानी चिकित्सा सम्बन्धी ग्रथ 'तिब्ब महाबी' का हिन्दी में 'वैद्यहुलास' नाम से पद्यानुवाद किया था। प्रथम फारसी के इस ग्रन्थ को उन्होंने सुना, फिर गुणीजनों को सुनाने हेतु भाषा में रचना की। उन्होंने स्वयं लिखा है—

'श्रवणे प्रथमें सुनि लई, 'तिब सहाबी आहि।
पाछे भाषा ही रची, गुनजन सुनिओ तांहि ॥3॥
'वैद्यहुलास' जो नाम धरि, कीयो ग्रन्थ अमीकंद।
'श्रावककुल' पक्ष (जन्म) को, नाम 'मलूक सुचंद' ॥5॥

'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' भाग2में उद्धृत प्रति का लिपिकाल संवत् 1871 (1814 ई.) है। ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका दी है—

'इति श्री मलूकचंद विरचिते तिब्ब सहाबी भाषा कृत नाम वैद्यहुलासं समाप्तं'

इसकी प्रतियों में पद्यसंख्या का अन्तर पाया जाता है। अभय जैनग्रन्थालय बीकानेर की प्रति में 404 और कृपाचंद्रसूरि ज्ञानभंडार बीकानेर की प्रति में 518 पद्य हैं। इसके संबंध में अगरचन्द नाहटा ने लिखा है—'कवि ने विशेष परिचय या रचनाकालादि नहीं दिये हैं। इसकी कई हस्तलिखित प्रतियां खरतरगच्छ के ज्ञानभंडारों में देखने में आई। अत: इसके खरतरगच्छीय होने की संभावना है।'[1]

इस ग्रन्थ में अध्यायों या खंडों का कोई विभाग नहीं है। एक ही प्रवाह में पूरा ग्रन्थ लिखा गया है।

ग्रन्थ में दी गई चिकित्सा सुगम और चित्ताकर्षक है—

'सुमगचिकित्सा चित्तरची, गुरुचरणे चितु लाइ' (प्रारम्भ, पद्य 2)

उदाहरण देखिए—

'कुलांजण ककडसिंही, लोंग कुढ सु कचूर।
भाडंगी जल वपत सो महाकास हुइ दूर ॥ (अंत, 404)

—कुलिंजन, काकड़ासींगी, लौंग, कूठ, कचूर, भारंगी का काढ़ा बनाकर पीने से तीव्रकास (खांसी) दूर होती है।

'तिब्ब सहाबी' की मूलरचना लुकमान हकीम ने फारसी में की थी। यह 'तिब्ब' अर्थात् यूनानी चिकित्सा का उपयोगी, प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इसका हिन्दी में पद्यमय अनुवाद करके मलूकचद ने नवीन दृष्टि का परिचय दिया है। इससे उनकी हिकमतविद्या में निपुणता और चिकित्साशास्त्र का गम्भीर ज्ञान होना सिद्ध होता है। समाज में धीरे-धीरे आयुर्वेद (वैद्यक) के साथ यूनानी चिकित्सा की उपयोगिता भी प्रकट हुई थी—यह इस अनुवाद से सूचित होता है। वैसे, यूनानी चिकित्सा का मूल भारतीय चिकित्सा–विज्ञान 'आयुर्वेद' ही है। अत: दोनों में सैद्धांतिक–समानताएं, ओषधिद्रव्यों की एकरूपता आदि तथ्य देखने को मिलते हैं।

सुमतिधीर (ई. 18वीं शती)

यह खरतरगच्छीय थे। इनकाकाल वि. 19वीं शती है।

इनके लिखे 'वैद्यजीवन–स्तबक' की हस्तप्रति चुरूभंडार में मौजूद है। यह सं. 1841 (1784 ई.) की लिखित है।

---

[1] अगरचन्द नाहटा, खरतरगच्छ के साहित्यसर्जक श्रावकगण, जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति–ग्रन्थ, पृ. 172।

कर्मचन्द्र

यह खरतरगच्छीय 'चौथजी' के शिष्य थे। इनका काल वि. 18वीं शती है।

इन्होंने 'माधवनिदान ज्वराधिकार–टीका' की रचना की थी। इसकी हस्तप्रति हीराचंदसूरि भंडार बनारस में है।

हंसराज पिप्पलक (वि. 18वीं शती)

इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। इनका काल वि. 18 वीं शती है।

इनके लिखे ग्रन्थ 'मूत्रलक्षण' की हस्तप्रति 'ख. जयपुर' में है।

गंगाराम यति (1821 ई.)

परिचय—पंजाब के यति–वैद्यों में गंगाराम यति का स्थान महत्वपूर्ण है। 'यति-निदान' के अन्त में स्वयं कवि द्वारा दिये गये 'कवि–कुल–वर्णन' से ज्ञात होता है कि ये मूलतः स्यालकोट के निवासी थे।[1] कवि गंगाराम और उनके छोटे भाई धनपति वहां से

---

[1] इह संखेपतः अर्थ लख सारीरक निज ज्ञान।
कविकुल भाखों प्रगट अब गच्छ नाम परमान॥
जनमसारि जिन वीर की, तजी भस्म ग्रह जौन।
उदय भये हीरा गिरि रूपचन्द सिस तौन॥
उदति दिवाकर तप विषे, वैरादिग सिख चैन।
'वस्तुपाल कल्यान मुनि भैरव मुनि यति जैन।
आचारज गिरमेर सम नेमचन्द धर धीर।
तिन के सुरतरु सम भये 'आसकरन' वर वीर॥
तिस प्रभ ते साखा भई, हरषावत सुख नाम।
'हरषचन्द' मुनिराज गुण करामात को धाम॥
हरषचन्द मुनिराज के सिख भूरि फलफूल।
'खेमचन्द मुनिराज ग्रहि, ज्ञातागुन निज मूल॥
सिख जुगल तिनके भये मोहन ऋष मुनिराम।
'रामचन्द' के सिख सम 'संगतमुनि' सुख धाम॥
'सालकोट' में प्रबल तप तेरा सिख समाज।
सभी गये परलोक सुख, रहे 'तीन मुनिराज॥
'अमीचन्द' सलकोट में वसे सदा ग्रह त्याग।
दुइ मुनि आइ वसे सुखी 'अमृतसर' बड़ भाग॥
ज्ञानवान तप तेज पर सील सिरोमनि भूप।
श्री ऋषि 'सूरतराम' मुनि अद्भुत सुन्दर रूप।
सिख जुगल तिनके भये 'गंगयति' कविदास।
'धनपति' ऋषि लघु भ्रातवर रहो सदा सुखवास॥

अमृतसर आकर बस गए यहां जैन–यति सूरतराम के प्रभाव से इन दोनों ने दीक्षा ले ली थी। आयुर्वेद का ज्ञान श्री गंगाराम ने 'सूरतराम' से ही ग्रहण किया था।

'यतिनिदान' के अन्त में दी गई पुष्पिका से भी ज्ञात होता है यह श्वेतांबर सम्प्रदाय में नागौरीगच्छ के गच्छ शिरोमणि मुनि 'संगतिराज' के शिष्य पंडित 'सूरतराम' के शिष्य थे।

'इति श्री गच्छशिरोमणि 'गच्छ नि (ना) गौरी' में श्री मुनिराज 'संगतिऋषि', तत्शिष्य श्रीपण्डितपूज 'सूरतराम', तत्शिष्य 'कवि–गंगाराम यति' विरचितं 'यतिनिदानं' समाप्तम्।'

सूरतराम ज्ञान–विज्ञान में प्रसिद्ध थे। विद्वानों के पूज्य थे। उनके विषय में यति गंगाराम लिखते हैं—

'श्री मुनि सूरतराम मुख वचन पियूष समान।
वह नर हुए अमर लघु, जिन नर कीने पान।।' (अ. 25)

ये आजीवन अमृतसर में रहे। रावी और व्यास के मध्यवर्ती क्षेत्र में बसा यह प्रसिद्ध नगर है। उस समय वहां 'महांसिंह' के पुत्र 'रणजितसिंह' (आहवजितसिंह) का शासन था—

'रावी ब्यासा के विषै अमृतसर विख्यात।
गुनि धनि तहि जन वसें, देखत सब दुःख जात।।
भूपति तिस पुर को बली, 'महां सिंघ' को पूत।
'आहवजित' इस नाम कर कलिजुग में पुरूहूत।।'

रणजितसिंह का शासन प्रतापी और समृद्धिशाली था। अमृतसर नगर में पश्चिमोत्तर भाग में 'बीब गली दुगलां दी' नामक मुहल्ले में गंगाराम यति रहते थे। वहीं 'यतिनिदान' ग्रन्थ की रचना की थी।

'अमृतसर पुर में सुखद पश्चिम उत्तर मांहि।
'वीषद्वार दुगलानि' की कवि को मन्दर आहि।।
ग्रन्थ रच्यौ यहि यति ने ताते 'यति निदान'।
'गंग यति' कवि को सदा रह्यो आत्मा ध्यान।।'

वैद्यकविद्या पर 'गंगाराम' के चार ग्रंथ मिलते हैं—1, यति–निदान, 2. लोलिम्बराजभाषा, 3. सूरतप्रकाश, 4. भावनिदान।

1, यतिनिदान—

यह 'माधवनिदान' का दोहे चौपाईयों में अनुवाद है। ग्रन्थकार के अनुसार मुरादाबाद निवासी जसवंत नामक ब्राह्मण जो अमृतसर में यति गंगाराम के पास आकर रहने लगा था, की प्रार्थना पर संस्कृत के माधवनिदान का पद्यमय भाषानुवाद किया था। उसे संस्कृत कठिन जान पड़ती थी। जनसाधारण में भी संस्कृत का समझ पाना शनैः शनैः दुरूह होता जा रहा था—

'नगर 'मुरादाबाद' को वासी 'द्विज जसवंत' ।
नगर 'सुधासर' आई कर ऐसे वचन कहंत ।।
'गंगयति' कवि वृन्द नृप ! 'माधव कठिन निदान' ।
ताके अब भाषा रचो जानें जान सुजान ।।
'गंगयति' कवि सुनत ही चित अनुकंपा धार ।
थोड़े में बहुमत धरी भाषा करी सुधार ।।' (अध्याय 1)

इसकी रचना अमृतसर में महाराजा रणजितसिंह के काल में वि. सं. 1878 (1821ई.) वैशाख सुदि 2 गुरुवार को पूर्ण हुई थी । उस समय नानकशाही सं. 352 था ।

'संवत् विक्रमराज को आठ सात वसु एक ।
राध मास थित दूज को सुठ गुरुवार विवेक ।।
संवत् नानक शाहि का सहसवेद तत्वजान ।
नैन सु बहुत बखानिये गुनिजन करहु ध्यान ।।
ग्रन्थ उदै तह दिन भयो पूपन जेम अकाश ।
देह भूमि को रोग तम सभ को करे प्रकाश ।।'

इस ग्रन्थ का नाम लेखक ने 'यति-निदान' रखा है । इसमें सर्वत्र जैनधर्म के प्रति आस्था, निष्ठा और गुरु के प्रति सम्मान की भावना परिलक्षित होती है ।

इस ग्रंथ में पच्चीस अध्याय हैं । पहले चौबीस अध्यायों के प्रारम्भ में क्रमशः एक एक जैन तीर्थङ्कर को नमस्कार किया गया है और पच्चीसवें अध्याय में गुरु सूरतराम की स्तुति की गई है । चौबीस तीर्थङ्करों के नाम इस प्रकार हैं—1. ऋषभदेव या आदिनाथ, 2. अजितनाथ, 3. सम्भवनाथ, 4. अभिनन्दन, 5. सुमतिनाथ, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपार्श्वनाथ, 8. चन्द्रप्रभ, 9. सुविधिनाथ, 10. शीतलनाथ, 11. श्रेयांसनाथ, 12. वसुपूज, 13. विमलनाथ, 14. अनन्तनाथ, 15. धर्मनाथ, 16. शान्तिनाथ, 17. कुन्तनाथ 18. अरनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनि सुव्रत, 21. नमिनाथ, 22. नेमिनाथ, 23. पार्श्वनाथ, 24. महावीर ।

ग्रंथारम्भ में ऋषभदेव के बाद पार्श्वनाथ, गणपति, शारदा, धन्वन्तरि और शंकर की वंदना की गई है । गंगाराम ने इस रचना से पहले चरक, धन्वन्तरि, सुश्रुत, वाग्भट, हारीत, भोज आदि के ग्रंथों व अन्यतंत्रों का अध्ययन किया था । यतिनिदान में माधवकर द्वारा विरचित 'माधवनिदान' के अनुसार रोग, भेद, साध्यासाध्यता, उपद्रव और अरिष्ट लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है ।

यह हिन्दी में दोहे और चौपाई छन्दों में लिखा गया है । भाषा पर पंजाबी प्रभाव दिखाई पड़ता है । अधिकारों या अध्यायों का विषयविभाजन इस प्रकार है—1. पंचनिदान और ज्वर, 2. अतिसार-प्रवाहिका, 3. संग्रहणी, 4. अर्श, 5. अजीर्ण, 6. क्रिमिरोग, पांडुरोग, 7. रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, उरःक्षत, 8. कासरोग, हिक्का, श्वासरोग, 9. स्वरभेद-अरोचक-छर्दि-तृष्णा, 10. मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तंद्रा-सन्यास-

मदात्यय-दाह, 11. उन्माद-अपस्मार, 12. वातरोग, 13. वातरक्त, 14. शूल, उदावर्त, 15. गुल्म-हृद्रोग, 16. मूत्रकृच्छ्र-मूत्राघात-अश्मरी, 17. प्रमेह-मेदोरोग, 18, उदररोग, शोथ वृद्धि, 19. गलगण्ड-गण्डमाला-ग्रन्थि-अपची-अर्बुद-श्लीपद-विद्रधि व्रणशोथ-शारीरव्रण-सद्योव्रण-भग्न-नाड़ीव्रण, 20. भगंदर-उपदंश-शूकरोग, 21. कुष्ठ, शीतपित्त, 21. अम्लपित्त, विसर्प, विस्फोट, मसूरिका, 22. स्नायुक, क्षुद्ररोग, मुखरोग, 23. नासारोग, नेत्ररोग, शिरोरोग, 24. स्त्रीरोग, (प्रदररोग, योनिव्यापद, योनिकंद, बाधकरोग, गर्भरोग, मूढ़गर्भ, प्रसूतरोग, स्तनरोग, दुग्धरोग), बालरोग, विषरोग, 25. मिश्रकाध्याय सम्प्राप्ति-विवेचन नाड़ीपरीक्षा मूत्रपरीक्षा, शारीरकज्ञान। इस प्रकार आयुर्वेदीय निदान विषय पर यह सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। चौबीसवें अध्याय के प्रारम्भ में यति गंगाराम ने सूचित किया है कि पूर्व के 23 अध्याय वि. संवत् 1877 कार्तिक शुक्ल 10 को पूर्ण हो गए।

यह ग्रन्थ केवल माधवनिदान का अनुवाद-मात्र नहीं है। कुछ नये रोग भी इसमें वर्णित हैं। 22वें अध्याय में 61 क्षुद्ररोगों का वर्णन किया है। इनमें शूकरदंष्ट्र, कच्चदद्रु, बध, पित्तरोग (बरसात में होने वाली फुंसियां), दग्धपित्त, कनेडू (कनफेड), छिक्कारोग — इन छः रोगों का विवरण अधिक दिया है।

गंगयति का कथन है कि एक एक रोमकूप में सौ सौ रोग हो सकते हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उनकी कल्पना और ज्ञान करे।

23वें अध्याय में उदरशूल-विशेष के रूप में 'बीलारोग' नामक विशिष्ट रोग का निदान दिया है। इसके हेतु शारीरिक और नजर का दोष बताया गया है। इसके निदान-लक्षणों का वर्णन दिया है। यद्यपि 'यतिनिदान' निदान का ग्रन्थ है, परन्तु कहीं कहीं इसमें अनुभूत औषधि एवं तंत्र-मंत्र प्रयोग दिए गए हैं। 'बीलारोग' के लिए मंत्र-प्रयोग दिया है। इसका यति गंग ने सिद्ध-चिकित्सा के रूप में उल्लेख किया है। 23वें अध्याय में ही यति गंग ने 'नपुंसकता' के 8 भेद बताए हैं—1 वात से, 2 पित्त से, 3 कफ से, 4 वातपित्त से, 5 वातकफ से, 6 पित्तकफ से, 7 सन्निपात से और 8 परस्त्री के साथ मैथुन करने से। कहीं कहीं लेखक ने अपने स्वतंत्र विचार भी प्रकट किये हैं। प्रदर से स्त्री की शोभा और सौंदर्य नष्ट हो जाता है। इसे रूपक में कवि ने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है—कामिनी स्त्री का शरीर आकाश है, मुख चंद्रमा है, केश संध्या है, अंग चमकते तारे हैं, देखने वाले मनुष्यों के नेत्र कुमुद हैं, जो स्त्री-मुखरूपी चंद्रमा को देखकर खिल जाते हैं। यह सब सुन्दर है। परन्तु प्रदररूपी सूर्य के उदय होने पर यह सब फीका पड़ जाता है। (अध्याय 24)

कहीं कहीं ग्रन्थ में संक्षिप्त अनुभूत चिकित्सा-प्रयोग और पथ्यापथ्य भी लिखे गये हैं। प्रदर की चिकित्सा में लिखा है—चूहे की मींगनी महीन पीसकर प्रतिदिन 6 माशे की मात्रा में बकरी के दूध के साथ खाने से सब प्रकार का प्रदररोग दूर होता है। इस

रोग में स्त्री को शीतल जल नहीं पीना चाहिए और न ही ठंडी हवा में घूमना–फिरना चाहिए।

योनिव्यापदों के कारणों में देश–काल रीतिरिवाज, कुल के देवीदेवताओं, सती, सौकन का कोप, फिरंग या उपदेशपीडित पुरुष से संसर्ग भी हेतु बताये गए हैं।

माधव के अनुसार वंध्या का वर्णन कर 'धन्वन्तरि' के मतानुसार उसके तीन भेद बताए हैं—जन्मवन्ध्या, काकवन्ध्या और मृतवत्सा। मृतवत्सा के पुन: 8 भेद दिये हैं। इसमें भगदोष की चिकित्सा वैद्य करे। कर्मदोष बलवान् हो तो कर्मविपाक के अनुसार यत्न करे। मन्तव्य के अनुसार नाम, इन्द्र, गणेश, महेश, दिनेश (सूर्य) और जिनेश (जैन तीर्थंकर) महावीर में से किसी एक का इष्ट रखें। दैवीकोप को दूर करने के लिए देवीदेवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा व उपासना करे। शारीरिक दोष को दूर करने के लिए शिवलिंगी का एक बीज या विधारे का बीज गुड में लपेट कर खा जावे इससे गर्भ ठहरता है।

'यतिनिदान' में स्त्रीरोगाधिकार में 'बाधकरोग' नामक विशिष्ट व्याधि का वर्णन प्राप्त होता है। ये सन्तानोत्पत्ति में बाधा जलनेवालि योनि–गर्भाशयरोग हैं। इनके चार प्रकार बताये हैं – रक्तभाद्री, षष्ठी, अंकुर और जलकुमार।

कुछ स्त्रियों को केवल स्त्रीसंतान ही पैदा होती है। लिंग-परिवर्तन कराने वाली औषधयोग गंगयति ने दिया है—जब गर्भ दो मास या 70 दिन का हो जावे तब स्त्री को प्रतिदिन एक–एक माशा भांग के बीज गुड़ में लपेट कर जल के साथ निगला दें। यह प्रयोग निरंतर 7 माह तक करें। उसके बाद छोड़ दें। इस प्रयोग के करने से गर्भ लड़की लड़के में बदल जावेगा। गंगयति का यह अनुभूत प्रयोग लगता है।

इसी प्रकार, स्तनविद्रधि में ज्वार के दोनों की पुल्टिस बांधना लिखा है। स्तन-विद्रधि में एक मरहम दिया है—तिलतैल 12 तोले लेकर गरम करें, उसके एक पल (4 तोले) सिन्दूर मिलाकर खूब गर्म करें, हिलाते रहें। फिर नीचे उतार लेवें। बाद में खूब हिलावें, ठंडा होने पर मलहम बन जावेगा। इसको स्तनविद्रधि में बांधने से शीघ्र आराम होता है।

बाल ग्रहों के प्रसंग में धन्वन्तरिमत के रूप में गंग यति ने प्रतिमास होने वाली विशिष्ट ग्रहपीड़ा का वर्णन किया है जो माधवनिदान में नहीं हैं—
बालकों को प्रथम मास में पूतनाग्रह, द्वितीयमास में कुटकुटा देवी का दोष, तृतीयमास में गोमती ग्रह, चतुर्थमास में पिंगलादेवी, पंचममास में कुटकुटा ग्रह, षष्ठमास में कंपितादेवी, सप्तममासमें शीतलादेवी, अष्टममास में राजनीदेवी, नवममास में कीरनादेवी, दशममास में शीतलादेवी, एकादशमास में राक्षसीदेवी का, द्वादशमास में सूखे की बीमारी हो जाते हैं। इसी प्रकार 12 वर्ष तक बच्चों में क्रमश: प्रथम वर्ष में पूतनाग्रर, द्वितीयवर्ष में रोबनी देवी, तृतीयवर्ष में धन्नादेवी, चतुर्थवर्ष में चंचलादेवी, पंचमवर्ष में नलनीदेवी, षष्ठमवर्ष में यातनादेवी, सप्तमवर्ष में अंजनादेवी, अष्ठमवर्ष में विन्ध्यवासिनीदेवी, नवमवर्ष में

कलहंसदेवी, दशमवर्ष में दूतीदेवी, एकादशवर्ष में बानलीदेवी, द्वादशवर्ष में बातलादेवी का प्रकोप होना बताया है। इनके साथ मास एवं वर्ष के अनुसार तत् तत् देवी-देवता की शांति हेतु चौराहों पर बलियों का विधान भी बताया है। इनमें जैनसिद्धांतानुसार मांस-मदिरा का समावेश नहीं है। इससे यति को ग्रहचिकित्सा, स्त्रीरोग, बालरोगों का गम्भीर ज्ञान होना सूचित होता है।

रावणोक्त निम्न मंत्र माला धारण करने से और प्रतिदिन जप करने से सब ग्रह टल जाते हैं, बच्चा स्वस्थ-सुखी रहता है—

'ॐ चिट चिट मिल मिल फजरू देव्यै नमः। रावणाय स्वाहा।'

बच्चों के लिए औषधि की माला का विधान दिया है। बच्चों के लिए 'पुष्टिकारकयोग' दिया है- वंशलोचन, दालचीनी, इलायची, सतगिलोय और मिश्री का समभाग कपड़-छान चूर्ण चटाने से बच्चा स्वस्थ, और हृष्टपुष्ट रहता है, रोगों से बचा रहता है।

ग्रन्थ में कहीं-कहीं यशवंत (जसवंत) को सम्बोधित कर विषय को बताने का भी उल्लेख है। (देखें, स्थावरविष के दस गुण बताने का प्रसंग)। विष प्रकरण के अंत में निर्विष मनुष्य के लक्षण बताये हैं, जो माधवनिदान में नहीं मिलते 'जिस व्यक्ति के सब दोष शांत हो गए हों, रसादिधातु स्वभावस्थ हों, भूख-प्यास ठीक लगते हों, मल-मूत्र का उत्सर्ग ठीक से हो रहा हो, अंग अपने कार्य ठीक ठीक करें, वर्ण निखर गया हो, मन स्वस्थ हो, और उसकी क्रियाएं (बोलचाल, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि) सम हों, आत्मा प्रसन्न हो—उसे निर्विष और स्वस्थ समझें। 25वें 'मिश्रक' अध्याय में शारीर-वर्णन के बाद 'धरन-रोग' उरोग्रहरोग, 'पार्श्वशूल' का वर्णन भी दिया है। गंगयति ने उरोग्रहरोग' का निदान-सम्प्राप्ति व लक्षण 'हरिश्चन्द्र के मतानुसार लिखे हैं। इस प्रसंग में उन्होंने अपनी अनुभूत चिकित्सा भी बतायी है—पहले नीले थोथे को दूध में घोलकर पिलावें। इससे वमन होंगे। इससे रोगी ठीक हो जावेगा। फिर क्वाथ प्रयोग दिये हैं। इसके बाद 'पार्श्वशूल' का निदान और उसकी चिकित्सा दी है। 'पार्श्वशूल' में उपयोगी प्रयोग दिए हैं। शूलवाले स्थान से रक्तमोक्षण करावें, सींगी लगावें। एलुआ 1 माशा मात्रा में गोमूत्र में गरम करके पीवें। एलुआ और बारहसिंगा दोनों को गोमूत्र में घिसकर गरम कर छाती पर लेप करें। छाती पर अण्डे की जरदी मलें। ऊपर एरण्डपत्र बांधें। खाने के लिए बारहसींगे की भस्म 2 रत्ती शहद और अदरक के रस के साथ चटावें।

इस प्रकार यह निदान विषयक अत्यन्त उपयोगी रचना है। कुछ स्थलों पर यति 'गंगाराम' द्वारा दिये हुए अनुभूत प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं।

ग्रन्थ के अन्त में जीवन-मृत्यु के विषय में बताया गया है। प्राणवायु नाभि से उठकर ऊपर नासिकाओं से बाहर निकलता है और आकाश से अमृत लेकर फिर हृदय और नाभि-मण्डल मे प्रवेश करता है। यही 'जीवन' है। शरीर, इन्द्रियां, मन और आत्मा के संयोग को जीवन कहते हैं। आत्मा और शरीर का मेल कर्म-बन्धन के अनुसार

होता है। जब तक कर्मयोग शेष होता है, तब तक जन्म–मृत्यु–क्रम चलता रहता है। सारा जगत् नाशवान् है। शास्त्र में 101 मृत्युएं कही हैं। इनमें से केवल एक काल–मृत्यु है, शेष सब निमित्तज हैं। औषधियों में अकाल मृत्यु टल सकती है, परन्तु काल–मृत्यु की कोई चिकित्सा नहीं है। रोगों के तीन भेद हैं—दोषज, कर्मज और दोषकर्मज।

ग्रंथांत में यति–परम्परानुसार वैराग्य का उपदेश है। संसार की सब आधि–व्याधियां शरीर में ही होती हैं। रोग, जरा, मरण, शोक आदि शरीर के ही साथ हैं। 'शरीर हड्डियों का ढ़ांचा है, मांस की मिट्टी लगाकर चमड़ी का परदा लगा दिया है। इस पंच तत्व के देहरे में केवल आत्मा ज्योतिःस्वरूप है, जो इस देहरे को टिकाए हुए है। जब तक इसमें चाह या तृष्णा रहती है, तब तक जन्म–मरण का चक्र चलता है। चाह मिटने पर आत्मा निर्लेप होकर इस बंधन से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त होती है।'

इस ग्रन्थ पर लाहोर के 'पंजाब संस्कृत पुस्तकालय' (मोतीलाल बनारसीदास संस्था) के अध्यक्ष लाला सुन्दरलाल जैन और बम्बई संस्कृत प्रेस के अध्यक्ष लाला शांतिलाल जैन के आग्रह पर, कविराज नरेन्द्रनाथ शास्त्री ने हिन्दी में 'तरङ्ग भाषा भाष्य' लिखकर 1947 में लाहोर से ही प्रकाशित कराया था। इस भाष्य में मूल दोहे–चोपाईयों का हिन्दी रूपान्तर करने के साथ नवीन रोगों का नैदानिक विवरण भी सम्मिलित कर दिया गया है। इससे इसकी उपयोगिता बढ़ गयी है।

(2) **लोलिम्बराज–भाषा**—लोलिम्बराज कृत 'वैद्यजीवन' एक काव्यमय वैद्यक–लघु-कृति है। इसकी सर्वत्र अत्यन्त प्रसिद्धि है। यह शृंगारात्मक शैली में लोलिम्बराज ने अपनी पत्नी को संबोधित कर लिखा था। इसी ग्रन्थ का यति गंगाराम ने हिन्दी पद्यानुवाद किया था। इसका रचनाकाल सं. 1872 (1815 ई.) है।

(3) **सूरतप्रकाश**—यति गंगाराम ने अपने गुरु सूरतराम के नाम से इसका नामकरण किया है। इसका अन्य नाम 'भावदीपक' है। इसका रचनाकाल सं. 1883 (1826 ई.) है। इसमें विभिन्न रोगों की चिकित्सा के लिए औषध योगों का उल्लेख है। यह हिन्दी पद्यों में लिखा हुआ है।

(4) **भावनिदान**—यह भी निदान संबंधी ग्रन्थ है। यह हिन्दी में पद्य बद्ध है। इसका रचनाकाल सं. 1888 (1831 ई.) दिया है।

ये अन्तिम तीनों ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में प्राप्त है। इनका उल्लेख 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'दी सर्च फॉर हिन्दी मैन्युस्क्रिप्ट इन दि पंजाब' (1922–24) में पृ. 30 पर हुआ है।

ज्ञानसार (1744–1842 ई.)

यह बीकानेर के रहने वाले थे। इनका जन्म सं. 1801 (1744 ई.) में

बीकानेर राज्य के अन्तर्गत जांगुल के पास जैमलेवास गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम उदयचद सांड और माता का नाम जीवणदे था। इन्होंने सं. 1812 में बारह वर्ष की उम्र में खरतरगच्छ जिनलाभसूरि के शिष्य 'रत्नराजगणि' (रायचंद्र) के पास दीक्षा ली। यह 'बड़ खरतरगच्छ' नाम से प्रसिद्ध है।

"बड़ खरतर जिनलाभ के, शिष्य रत्नगणिराज',
ज्ञानसार मुनि मंदमति, आग्रह प्रेरण काज।। (कामोद्दीपन, ग्रंथांत, पद्य 174)

जिनलाभसूरि के गुरू जिनभक्तिसूरि थे —

"खरतरगच्छ' दिनमणि श्री 'जिनभक्ति सूरीस',
तास पटोधर 'जैनलाभना' शीश सुशीश,
'रत्नराजगणि' गणिमणि, तास चरण अरविन्द,
सेवै 'ज्ञानसार मुनि' कीनो अति मतिमंद। (बासठ मार्गणा यंत्ररचना, 112)

यह भट्टारक मुनि थे —

"खरतर भट्टारक' गछै, रत्नराज गणि' सीस
आग्रहतै दोधक रचै, 'ग्यानसार' मन हींस' (निहालबावनी, गूढाबावनी, 54)

"भट्टारक खरतर' गच्छे, श्री जिनलाभसूरिंद,
'रत्नराजमुनि' भ्रमर पर सेवे पद मकरंद,
जसु चरण रजकण सभो, ज्ञानसार बुद्धिमंद, (जिनकुशलसूरि अष्टप्रकारी पूजा पद्य 3–4)

इनका विहार बीकानेर, जैसलमेर और जयपुर राज्यों में हुआ। सं. 1849 से 1852 तक चार वर्ष इनका विहार पूरबदेश में हुआ। ये बहुत ज्ञानी, मस्तयोगी और कवि थे। इनका बीकानेर के राजा सूरतसिंह, जयपुर नरेश सवाई माधवसिंह प्रथम (1751–1767) और उनके पुत्र महाराजा प्रतापसिंह (1778–1803 ई.), जैसलमेर के रावल गजसिंह और प्रधान जोरावरसिंह पर इनका अच्छा प्रभाव था। इनको राज्य—सम्मान प्राप्त था। इनकी अनेक कृतियां मिलती हैं जो हिन्दी-राजस्थानी में है। ज्ञानसार को 'नारण बाबा' (नारायण बाबा) भी कहते थे। इस नाम से उन्होने कुछ ग्रन्थ भी लिखे हैं —

"नारण' धरी अरू कपा पहुर, रहे नहीं सो सुधर नर' (पूरबदेश वर्णन, 133)

'हृदय उपजी रीभ, 'अट्ठारै अट्ठावनै,
जेठ शुक्ल तिथि तीज, निरमी खरतर नारणैं', (संबोध अष्टोत्तरी, 108)

इनका स्वर्गवास सं. 1899 (1842 ई. मे हुआ था। इनकी पादुका सं. 1902 की बीकानेर में मौजूद है। सदासुख, हरसुख आदि इनके अनेक शिष्य थे।

कामविद्या पर इनका 'कामोद्दीपन ग्रन्थ' मिलता है। यह शृंगारप्रधान है। यह राजस्थानी हिन्दी में है। इसकी रचना जयपुर के महाराजा माधवसिंह के पुत्र

प्रतापसिंह के लिए की गई थी। रचनाकाल सं. 1856 (1799 ई.) वैशाख शुक्ल तीज दिया है, और रचनास्थल जयपुर नगर दिया है।

'प्रतिपों श्री 'परताप' हरि, 'माधवेस' नृपनंद'
धर जंबू फुनि मेरु गिर, ध्रूतारी रविचंद ।।172।।
'रस6 सेर5 अरु गज8 इंदु1 (1856) फुनि, माधव मास उदार,
शुकल तीज तिथ तीज दिन, जयपुर नगर मझार ।।173।।' (ग्रंथांत)

इस ग्रन्थ की रचना के संबंध में कवि ने लिखा है –

'ग्रन्थ करौ षट रस भरौ, वरनन 'मदन' अखंड,
जसु माधुरि तातै जगति, खंड खंड भई खंड ।।175।।
सुधरनि जन मत रस दियैं, रस भोगवि सहकार।
'मदन उदीपन' ग्रंथ यह, रच्यौ रुच्यौ श्रीकार ।।176।।
जग करता करतार है, यह कवि वचन विलास,
पैंया मति को खंड है, है हम ताके दास ।।177।।

कवि ने जयपुर नरेश माधवसिंह के संबंध में 'माधवसिंहवर्णन' (र. का. सं. 1899, भाद्र., वदि 11) और प्रतापसिंह के बारे में आशीर्वादात्मक गुणवर्णन परक 'समुद्रबद्धचित्र कवित्त' (सं. 1853 के लगभग) रचनाएं भी की थीं।

ज्ञानसार की कृतियों का वर्णन 'जैन गुर्जर कविओ' भाग 3, खंड 1, पृ. 260 से 274. तथा 'हिन्दुस्तानी' वर्ष 1 अंक 2 में प्रकाशित 'नाहटा के' लेख 'श्रीमद ज्ञानसार और उनका साहित्य' में देखें।

लक्ष्मीचन्द जैन (1880 ई.)

यह पचारी नगर (?) के निवासी थे। इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा के विषय में कृति (लक्ष्मीप्रकाश) के अन्त में निम्न पंक्तियों में परिचय दिया है[1]—

"शहर पचारी' शुभ वसो जैनि जन को वास।
ता बिच मंदिर जैन को भगवत को निज दास ।।
निज सेवक हैं भक्तजन बुध 'कुशाल और चंद'।
ता कुल को अरुमान है ताकै शिष्य 'नैणचंद' ।।
ताकइ शिष्य 'मोतीराम' है ताकै शिष्य श्रीलाल।
ताकै शिष्य 'लक्ष्मीचंद' है ताकै शिष्य 'महिलाल' ।।

---

1 देखें मेरा लेख—'आयुर्वेद जगत् को राजस्थान के जैन विद्वानों की देन — पं. चैनसुखदास स्मृति ग्रंथ (जयपुर, 1976), पृ. 294–295

पचारी शहर में जैनियों का निवास था। उसमें जैन मंदिर में लक्ष्मीचन्द का निवास था। इसकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतायी गयी है—

कुशालचंद
|
नैनचंद
|
मोतीराम
|
श्रीलाल
|
लक्ष्मीचंद
|
महिलाल

इसके अतिरिक्त लक्ष्मीचंद के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।

इनका एक वैद्यक-ग्रन्थ मिलता है—'लक्ष्मीप्रकाश'। इसमें रोगों का निदान, पूर्व लक्षण और लक्षण लिखकर स्वानुभूत औषधयोग दिये हैं। ग्रन्थ–रचना में अनेक ग्रंथों, खासकर माधवनिदान, भावप्रकाश, योगचिंतामणि, चरक, वाग्भट, शार्ङ्गधरसंहिता आदि से सहायता ली गई है—

"लक्ष्मीप्रकाशज' ग्रंथ है पूर्व ग्रन्थ की साख।
'माधवग्रन्थ' निदान कृत 'भावप्रकाश' की साख ॥
'योगचिंतामणि' उपाय करि चरक वागभट जान।
'शारंगधर' इत्यादि सब एही उपाय बखान ॥' (ग्रंथांत में)

यह ग्रन्थ हिन्दी पिंगल में—दोहा, सवैया, चौपई, छप्पय, सोरठा छंदों में लिखा है। ग्रन्थकार के अनुसार इसमें कुल छंदसंख्या 1720 बतायी गयी है—

'दोहा सवैया चौपई छप्पय सोरठा जान।
एक सहस्त्र अरु सातसै ऊपरि बीस बखाण ॥' (ग्रन्थांत में)

कवि ने ग्रंथ का रचनाकाल शक संवत् 1802 और विक्रमी संवत् 1937 (1880 ई.) वैशाख कृष्ण 11 बुधवार दिया है। यह ग्रन्थ सिंह लग्न में पूरा हुआ था—

'साको अठारा में कह्यौ उपरि दोय बधाय।
ता दिन में वौ ग्रंथ है इह विधि कही जिताय ॥
संवत् उगणीसे अधिक वर्ष ऊपरि सैंतीस।
वदि वैशाख एकादशी बुध दिन प्रगटीस ॥
सिंघ लग्न में पूर्ण है 'लक्ष्मीग्रंथप्रकाश'।
अल्प बुद्धि करि कीजिये ग्रंथ उरण को भाव ॥'

ग्रन्थारम्भ में जिन, शारदा, पंचपरमेष्ठि, धन्वन्तरि और वाग्भट को नमस्कार किया गया है।

इसकी संवत् 1945 की हस्त-प्रति विद्यमान है।[1]

श्रीपालचंद्र (19वीं शती)

यह खरतरगच्छीय विवेकलब्धि के शिष्य थे। इनका दीक्षा का नाम शील-सौभाग्य था। अनेक विषयों में इनकी गति है। आयुर्वेद के भी ये अच्छे ज्ञाता थे।

इनका लिखा हुआ 'जैनसम्प्रदायशिक्षा' ग्रन्थ है। यह बहुत विस्तृत रचना है। जिसका प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस बम्बई से हुआ है। इसमें व्याकरण, नीति, धर्म के साथ वैद्यकशास्त्र, रोगपरीक्षा, सामान्य ज्योतिष, स्वरोदय, शकुनविचार आदि विषय भी हैं।

इनकी सं. 1967 (1910 ई.) में मृत्यु हुई थी।

रामलाल महोपाध्याय (20वीं शती)

यह बीकानेर के निवासी और 'धर्मशील' के शिष्य थे। यह जैन खरतरगच्छ के जिनदत्तसूरि शाखा के अनुयायी थे। इनका एक वैद्यकग्रंथ 'रामनिदानम्' या 'रामऋद्धिसार' नाम से संस्कृत में पद्यबद्ध मिलता है।

रामनिदानम् (रामऋद्धिसार)—इस ग्रन्थ में संक्षेप में सब रोगों के निदान बताए गए हैं। इसमें कुल 712 श्लोक हैं।

ग्रंथ के प्रारंभ में जिनेन्द्र (महावीर) से श्रेय की कामना की गई है। इसके बाद 'जिनदत्तसूरि, कुशलसूरि, गुरु धर्मशील और सरस्वती देवी' को नमस्कार किया है।

ग्रंथारंभ में लिखा है—'अथ रामनिदानं लिख्यते।
श्रियं स दद्यात् भवतां 'जिनेन्द्र यदाप्तस्तस्याद्वादसुधासमुद्र।
येन निर्दिष्टभवा रुजापहृत्, सिद्धौषधं पथ्यनिमित्तकारणम् ॥1॥
'श्रीजिनदत्तसूरीशं' सूरिं कुशलसंज्ञकम्।
सद्गुरुं 'धर्मशीलं' च वाग्देवीं प्रणमाम्यहम् ॥2॥
निदानं सर्वरोगाणां आचक्षेऽहं समासतः।
बालानां सुखबोधाय 'निदानं रामसंज्ञकम् ॥3॥
आत्रेय निजपुत्राय नाभेय जिनपुंगवम्।
शिक्षितमायुर्ज्ञानार्थं 'तत्सारं' अत्र संग्रहम् ॥4॥'

आत्रेयकृत नैतानिक विवेचन सार इसमें दिया जा रहा है—ऐसी ग्रंथकार की उक्ति है। ग्रंथ की अपूर्ण हस्तप्रति प्राप्त है। (रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर, 5569)

---

[1] मुनि कांतिसागर, आयुर्वेद का अज्ञात साहित्य, उदयाभिनंदनग्रन्थ, 1968

ऋद्धिसार या रामऋद्धिसार (रामलाल) 20वीं शती

यह खरतरगच्छीय क्षेमकीर्ति शाखा के कुशलनिधान के शिष्य थे। ये बहुत अच्छे चिकित्सक थे। इनके द्वारा लिखे हुए कई ग्रंथ हैं। सब ग्रंथ उन्होंने स्वयं प्रकाशित किए थे। 'दादाजी की पूजा' (सं. 1953, बीकानेर) इनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। यह बीकानेर के निवासी थे। इनके अधिकांश ग्रंथ सं. 1930 से 67 के मध्य के हैं।

इनका लिखा हुआ 'वैद्यदीपक' नामक वैद्यकग्रंथ है। यह मुद्रित है। सन्तान-चिंतामणि, गुणविलास, स्वप्नसामुद्रिकशास्त्र, शकुनशास्त्र भी विषय से संबंधित ग्रंथ हैं।

मुनि कांतिसागर

यह खरतरगच्छीय जिनकीर्तिरत्नसूरिशाखा के जिनकृपाचंदसूरि के शिष्य उ. सुखसागर के शिष्य थे। आपका हिन्दी, राजस्थानी साहित्य पर अच्छा अधिकार था। इसके अतिरिक्त इतिहास, पुरातत्व, कला और आयुर्वेद तथा ज्योतिष का भी अच्छा ज्ञान था। यह अच्छे चिकित्सक व रसायनज्ञ थे। 'खण्डहरों का वैभव', 'खोज की पगडंडियां, जैन धातु प्रतिमा लेख, श्रमणसंस्कृति और कला, सईकी-एक अध्ययन, आदि उच्चकोटि के शोधपूर्ण ग्रंथ हैं। 'एकलिंगजी का इतिहास' अप्रकाशित है।

आयुर्वेद साहित्यपर भी आपने कुछ लेख लिखे हैं—'आयुर्वेद का अज्ञात साहित्य' (मिश्रीमल अभिनंदनग्रंथ, पृ. 300–317) आदि।

अध्याय-5

दक्षिण भारत के जैन आयुर्वेद-ग्रंथकार

दक्षिण भारत की कर्णाटक प्रांत की कन्नड़, मद्रास प्रांत की तमिल, केरल प्रांत की मलयालम और आन्ध्र प्रदेश की तेलगु भाषाएं मुख्य हैं। उत्तरी और दक्षिणी भारत के मध्यवर्ती सेतु के रूप में पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रांत की मराठी भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व है जो संस्कृत और प्राचीन शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित है।

'कन्नड़ भाषा' में छठी शती से पहले का कोई शिलालेख नहीं मिलता। राष्ट्रकूट नरेश नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथम (ई. 817 से 877) के द्वारा विरचित 'कविराजमार्ग' नामक कन्नड़ भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ है। इसमें कन्नड़ कवियों का वर्णन है, इससे 9वीं शती से पूर्व में कन्नड़ साहित्य के अस्तित्व का पता चलता है। आगे कन्नड़ भाषा की भौगोलिक सीमा इस प्रकार बतायी गयी है—"कन्नड़ प्रदेश कावेरी से गोदावरी तक फैला है।" महाराष्ट्री भाषा इसके उत्तर और पश्चिम में फैली थी।

कन्नड़ भाषा में जैनविद्वानों के वैद्यक पर अनेक ग्रंथ मिलते हैं। इनमें से कुछ प्रसिद्ध और प्रकाशित भी हैं।

तमिल, तेलगु, मलयालय और मराठी में जैनविद्वानों के वैद्यक-ग्रंथ का नगण्य हैं।

कन्नड के जैन आयुर्वेद-ग्रंथकार

मारसिंह (961-974)

यह कर्णाटक का गंगवंशीय राजा था। इसने 961-964 ई. तक राज्य किया।[1] यह बहुत प्रतापी, प्रतिभासंपन्न और समृद्धिवान् राजा था। जैन धर्म के उत्थान में उसने पर्याप्त योगदान दिया था। उसने जीवन के परवर्ती काल में राज्य त्याग कर बंकापुर में अजितसेन भट्टारक के समीप सल्लेखना धारण की थी।

कुडुलूर के दानपत्र में मारसिंह को व्याकरण, तर्क, दर्शन और साहित्य का विद्वान् होने के साथ 'अश्वविद्या' और 'गजविद्या' में भी निपुण बताया गया है।[2]

परन्तु उसका अश्व या गज चिकित्सा पर कोई वैद्यकग्रंथ प्राप्त नहीं होता।

---

[1] कैलाशचन्द्र शास्त्री, दक्षिण भारत में जैन धर्म, पृ. 83

[2] मैसूर आॅर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1921, पृ. 22-23

कीर्तिवर्मा (1125 ई0)

यह कर्णाटक का चालुक्य राजा था। यह जैन धर्मानुयायी था। इसने 1125 ई. में कन्नाड भाषा में 'गोवैद्य (क)' ग्रंथ लिखा है।

यह ग्रंथ कर्नाटकी भाषा (कन्नडी) में है। कन्नड़ में आयुर्वेद संबंधी ग्रंथ लिखने वालों में इसका नाम सर्वप्रथम है।

कीर्तिवर्मा के पिता का नाम राजा त्रैलोक्यमल्ल, अग्रज का नाम राजा विक्रमांक और गुरु का नाम देवचन्द्र मुनि था। ये चालुक्य वंशी थे। त्रैलोक्यमल्ल का शासनकाल ई. 1042 से 1068 और इनके बड़े भाई का शासन काल ई. 1076 से 1126 तक रहा। अतः कीर्तिवर्मा का काल 1125 ई. प्रमाणित होता है। कहा जाता है कि त्रैलोक्यमल्ल की केतली देवी नामक एक रानी जैन मतानुयायी थी. जिसने कुछ जैन मंदिर भी बनवाये थे। कीर्तिवर्मा संभवतया इसी का पुत्र था।

कीर्तिवर्मा ने अपने लिए कवि कीर्तिचंद्र, कन्दर्पमूर्ति, सम्यक्तरत्नाकर, बुध भव्यबान्धव, वैद्यरत्न, कविताब्धिचन्द्रम्, कीर्तिविलास आदि विशेषण प्रयुक्त किये हैं।

अहिंसावादी जैनधर्म में प्राणिमात्र पर दया की भावना से मनुष्येतर वैद्यक पर भी ग्रंथ रचना हुई थी। इसमें गोवैद्यक का प्रमुख स्थान है। यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसमें गोव्याधियों की निदान सहित औषध, मंत्र आदि द्वारा विस्तार से चिकित्सा का प्रतिपादन है।

सोमनाथ कवि (1140 ई.)

यह जैन धर्मानुयायी और जगद्दल का सामन्त था। 'विचित्र कवि' उसकी उपाधि थी। यह कर्णाटक का निवासी था। इसने 1140 ई. के लगभग पूज्यपादकृत संस्कृत के 'कल्याण कारक' का कानडी भाषा में अनुवाद किया था। सोमनाथकृत यह ग्रंथ 'कर्णाटक कल्याणकारक' कहलाता है। इसकी कर्णाटक में आज भी बहुत प्रसिद्धि है। इसमें पीठिका-प्रकरण, परिभाषाप्रकरण, षोडशज्वर-चिकित्सा-निरूपण-प्रकरण आदि अष्टांग आयुर्वेद चिकित्सा दी गई है। पूज्यपाद ने अपने ग्रंथ में मद्य, मांस और मधु का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध बताया है, सोमनाथ ने कन्नडी कल्याणकारक में लिखा है–'सुकरं तानेने पूज्यपाद-मुनिगल् मुंपेलद् कल्याणकारकमं 'वाहटसिद्धसारचरकाद्युत्कृष्टमं' मद्गुणाधिकं वर्जितमद्य-मांसमधुवं कर्णाटादिलोकरं क्षयमा चित्रमदागे चित्रकवि सोमं पेलदगिंन तलितोयं।'[1]

स्वयं सोमनाथ ने लिखा है कि उसके इस ग्रंथ का संशोधन समनोबाण और अभय-चंद्र सिद्धांति ने किया है। ग्रंथारम्भ में माघवचंद्र की स्तुति है, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोल्ला के 1125 ई. के शिलालेख नं 384 में हुआ है। अतः सोमनाथ का काल 1140 ई. के लगभग निर्धारित किया जाता है।

---

[1] कल्याणकारक, प्रस्तावना, पृ. 40 पर उद्धृत

ग्रंथारम्भ में तीर्थंकर चंद्रप्रभ और सरस्वती की स्तुति के साथ माधवचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती, अभयचंद्र और कनकचंद्र पण्डितदेव की स्तुति की गई है। माधवचंद्र त्रिलोकसार के टीकाकार और अभयचंद्र गोम्मटसार की मंदप्रबोधिकाटीका के कर्ता थे। कीर्तिवर्मा (1125 ई.) के 'गोवैद्य' को छोड़कर सोमनाथकृत कन्नड़ कल्याणकारक ही सर्वाधिक प्राचीन है। यह ग्रन्थ प्राच्य संशोधनालय, मानस गंगोत्री, मैसूर से प्रकाशित हो चुका है।

अमृतनंदि (13वीं शती)

यह दक्षिण के दिगम्बर आचार्य थे। इन्होंने जैन दृष्टि से वनस्पति-नामों के पारिभाषिक अर्थों को बताने के लिए 'निघण्टु-कोष' की रचना की थी। यह कोष अत्यन्त विस्तृत है। इसमें 22000 शब्द हैं।[1] यह प्रारंभ से सकार (स. सा.) तक ही प्राप्त है, शेष भाग संभवतः ग्रंथकार द्वारा पूर्ण नहीं किया जा सका हो। इसमें वनस्पतियों के नाम जैन परिभाषाओं के अनुसार सूचित किये गये हैं। जैसे—

अभव्यः —हंसपादि
अहिंस्रा —वृश्चिकालि
अनंत —सुवर्ण
ऋषभ —पाठे की लता
ऋषभा —आमलक
मुनिखर्जूरिका—राजखजूर
वर्धमाना —मधुर मातुलुंग
वर्धमानः —श्वेतैरण्डः
वीतरागः —आम्रः

यह कोश अत्यंत महत्वपूर्ण है।

वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री को इसकी हस्तप्रति बैंगलोर में वैद्य पं. यल्लप्पा के पास देखने को मिली थी।[2]

अमृतनन्दी कन्नड़ प्रांत के निवासी थे। इनका कन्नड़ में 'अलंकारसंग्रह' या 'अलंकारसार' नामक ग्रन्थ भी मिलता है। इसकी रचना मन्व राजा के आग्रह से इस संग्रहात्मक ग्रंथ के रूप में की गई थी। कवि ने मन्व का परिचय दिया है—

'उद्दामफलदां गुर्वीमुदधिमेखलम्।
'भक्तिभूमिपतिः शास्ति जिनपादाब्जषट्पदः ॥3॥'
तस्य पुत्रस्त्यागमहासमुद्रबिरुदांकितः।
सोमसूर्यकुलोत्तंसमहितो 'मन्वभूपतिः' ॥4॥
स कदाचित् सभामध्ये काव्यालापकथान्तरे।
अपृच्छदमृतानन्दमादरेण कवीश्वरम् ॥5॥
संचित्यैकत्र कथय सौकर्याय सतामिति।
मया तत्प्रार्थितेनेत्थममृतानन्दयोगिना ॥

---

1 कल्याणकारक, प्रस्तावना, 36-37
2 जैनसाहित्य का वृ. इति. भाग 5, पृ. 231, 117

मन्वभूपति का काल 1299 ई. (संवत् 1355) के लगभग माना जाता है। अतः अमृतनंदि का काल 13वीं शती प्रमाणित होता है।

मंगराज या मंगरस प्रथम (1360 ई.)

'विजयनगर' के हिन्दू साम्राज्य के आरंभिककाल में 'राजा हरिहरराय' के समय में 'मंगराज प्रथम' नामक कानडी जैन कवि ने वि. सं. 1416 (1360 ई.) में 'खगेन्द्रमणि-दर्पण' नामक वैद्यकग्रंथ की रचना की थी। यह कानडी (कर्नाटक भाषा) में बहुत विस्तृत ग्रन्थ है। यह विषचिकित्सा संबंधी उत्तम ग्रंथ है। इसमें स्थावरविषों की क्रिया और उनकी चिकित्सा का वर्णन है। ग्रन्थ में लेखक ने अपने को 'पूज्यपाद' का शिष्य बताया है, और लिखा है—स्थावरविषों संबंधी यह सामग्री उसने 'पूज्यपादीय' ग्रन्थ से संगृहीत की है।

मंगराज का ही नाम 'मंगरस' था। इसने अपने को होयसल राज्य के अन्तर्गत मुगुलिपुर का राजा और पूज्यपाद का शिष्य बताया है। इसकी पत्नी का नाम कामलता था और इसकी तीन संतानें थीं। यह कन्नड़ साहित्य के चम्पूयुग का महत्वपूर्ण कवि था।

इसने विजयनगर के राजा हरिहर की प्रशंसा की है, अतः मंगराज उसका समकालीन था। इसकी 'सुललित–कवि–पिकवसंत', विभुवंशललाम' आदि अनेक उपाधियां थीं।

मंगराज ने लिखा है कि जनता के निवेदन पर उसने सर्वजनोपयोगी इस वैद्यकग्रंथ की रचना की है। इसमें औषधियों के साथ मंत्र–तंत्र भी दिये हैं। ग्रंथकार लिखता है—'औषधियों से आरोग्य, आरोग्य से देह, देह से ज्ञान, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मैं औषधिशास्त्र का वर्णन करता हूं। इस ग्रन्थ में स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के विषों की चिकित्सा बतायी गयी है।

यह ग्रन्थ शास्त्रीय शैली में लिखा गया है अतः इसमें काव्यचमत्कार भी विद्यमान है। इसकी शैली ललित और सुन्दर है। इसका प्रकाशन मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास से हो चुका है।

श्रीधरदेव (1500 ई.)

यह दिगम्बर जैन पण्डित था। इनका 'जगदेक महामंत्रवादि' विशेषण मिलता है।

यह विजयनगर राज्य का निवासी था। इसने 1500 ई में 'वैद्यामृत' की रचना की है। इसमें 24 अधिकार हैं। यह कन्नडी भाषा में है।

बाचरस (1500 ई.)

यह दिगम्बर जैन विद्वान् था। यह विजयनगर के हिन्दू राज्य का निवासी था। इसने 1500 ई. में 'अश्ववैद्य' की रचना की थी। इसमें अश्वों (घोडों) की चिकित्सा का वर्णन है। यह कानडी भाषा में है।

पद्मरस (1527 ई.)

मैसूर नरेश चामराज के आदेश से 'पद्मण्ण पंडित' या 'पद्मरस' ने 1527 ई. में 'हयसारसमुच्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें घोड़ों की चिकित्सा का वर्णन है।

पद्मरस भट्टाकलंक का शिष्य था। यह दिगम्बर जैन था। पद्मरस जैनशास्त्रों का उच्चकोटि का विद्वान् था।

मंगराज या मंगरस (द्वितीय)

इसका रचित 'मंगराजनिघण्टु' ग्रन्थ है। यह अप्रकाशित है।

मंगराज या मंगरस (तृतीय)

कन्नड़ साहित्य में विभिन्न कालों में होने वाले तीन मंगरस माने जाते हैं—

(1) मंगरस प्रथम—'खगेन्द्रमणिदर्पण' का कर्ता

(2) मंगरस द्वितीय—'मंगराजनिघण्टु' का कर्ता

(3) मंगरस तृतीय—'सूपशास्त्र' आदि ग्रन्थों का कर्ता।[1]

मंगरस तृतीय का काल 16वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। यह क्षत्रिय था। इसका पिता चेंगाल्व सचिवकुलोद्भव कल्लहल्लिका विजयभूपाल था जो वीरमोघ भी था। माता का नाम देविले और गुरु का नाम चिक्कप्रभेन्दु दिया है। इसकी प्रभुराज, प्रभुकुल और रत्नदीप—उपाधियां थीं। सूपशास्त्र के अलावा इसके जलनृप-काव्य, नेमिजिनेशसंगति, श्रीपालचरिते, प्रभंजनचरिते और सम्यक्त्वकौमुदी ग्रन्थ हैं।

'सूपशास्त्र' पाकशास्त्र संबंधी ग्रन्थ है। यह कन्नड़ भाषा में 'वार्धक षट्पदि' नामक छंद में 356 पद्यों में पूर्ण हुआ है। यह पिष्टपाक, पानक, कलमन्नपाक, शाकपाक आदि पाकशास्त्र के संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में इन ग्रंथों का उल्लेख है। मंगरस के अनुसार पाकशास्त्र स्त्रियों के लिए अत्यन्त प्रिय और उपयोगी है। रसनेन्द्रियतुष्टि से ही लौकिक और परलौकिक सुख मिलता है।

मंगरस का सूपशास्त्र ग्रंथ प्राच्य संशोधनालय, मानसगंगोत्री, मैसूर से प्रकाशित हो चुका है।

साल्व (16वीं शती, उत्तरार्ध)

यह बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न जैन कन्नड़ कवि था। इसके पिता का नाम धर्मचंद्र

---

1 जै. सा. वृ. इति., भाग 7, (1981) पृ. 87

और गुरु का नाम श्रुतकीर्ति था। इसका काल 16वीं शती का मध्य या उत्तरार्ध माना जाता है।

इसके कन्नड़ भाषा में रचित अनेक ग्रन्थ हैं—भारत, शारदाविलास, रसरत्नाकर, वैद्यसांगत्य। भारत की रचना कवि ने अपने आश्रयदाता राजा साल्वमल्ल या साल्वदेव की प्रेरणा से 'भामिनी षट्पदि' छंद में की थी। इस ग्रन्थ का अन्य नाम 'नेमीश्वर-चरिते' भी है। यह धार्मिक कथाग्रंथ है। शारदाविलास में ध्वनिसिद्धांत का प्रतिपादन है। रसरत्नाकर में अलंकारशास्त्र का निरूपण है और नौरसों का विस्तार से वर्णन है। 'वैद्यसांगत्य' एक उत्तम वैद्यक ग्रन्थ है। 'सांगत्य' कन्नड़ काव्य के छंद-विशेष का नाम है।

परिशिष्ट—1

अज्ञातकर्तृक रचनाएं

1. नाडीविचार—

अज्ञातकर्तृक 'नाडीविचार' नामक कृति 78 पद्यों में है। पाटन के ज्ञानभंडार में इसकी प्रति विद्यमान है। इसका प्रारंभ 'नत्वा वीरं' से होता है, अतः यह जैनाचार्य की कृति मालूम पड़ती है। संभवतः यह 'नाडीविज्ञान' से अभिन्न है।[1]

2. नाड़ीचक्र तथा नाड़ीसंचारज्ञान—

इन दोनों ग्रंथों के कर्ताओं का कोई उल्लेख नहीं है। दूसरी कृति का उल्लेख 'वृहट्टिप्पणिका' में है, इसलिए यह ग्रन्थ पांच सौ वर्ष पुराना अवश्य है।'[2]

3. नाड़ीनिर्णय—

अज्ञातकर्तृक 'नाड़ीनिर्णय' नामकग्रन्थ की 5 पत्रों की हस्तलिखित प्रति मिलती है। वि. सं. 1812 में खरतरगच्छीय पं. मानशेखर मुनि ने इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि की है। अन्त में 'नाड़ीनिर्णय' ऐसा नाम दिया है। समग्र ग्रंथ पद्यात्मक है। 41 पद्यों में ग्रंथ पूर्ण हुआ है। इसमें मूत्रपरीक्षा, तैलबिन्दु की दोषपरीक्षा, नेत्रपरीक्षा, मुखपरीक्षा, जिह्वापरीक्षा, रोगों की संख्या, ज्वर के प्रकार आदि से संबंधित विवेचन है।'[3]

---

[1]–[3] जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 232

जैन आयुर्वेद-ग्रन्थकारएवं व्यक्ति-अनुक्रमणिका

जैन आयुर्वेद-ग्रंथ—अनुक्रमणिका

❀

लेखक की अन्य प्रकाशित कृतियां

- अभिनव स्त्रीरोग-विज्ञान
- अभिनव मानसरोग-विज्ञान
- अर्वाचीन मानसिक रोग-विज्ञान
- रोगों की सरल चिकित्सा
- संक्षिप्त रोग निदान - चिकित्सा
- राणकपुर का इतिहास

प्रेस में–

- जैन आगम साहित्य में आयुर्वेद
- राजस्थान की आयुर्वेद को देन
- काय-चिकित्सा (रसायन-वाजीकरण-पंचकर्म खण्ड)